# जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 5 • मई, 2003

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

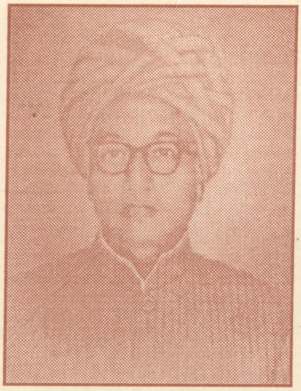

बस्तीमलजी छाजेड़

परस्परोपग्रहो जीवानाम्

शाह मांगीलाल शांतिलाल छाजेड़ एंड कंपनी

64, ए.एम. लेन, चिकपेट, बंगलौर 560053

**शुभू पटवा**
मानद संपादक
•
**बच्छराज दूगड़**
मानद सह-संपादक

# जैन भारती

वर्ष 51 • मई, 2003 • अंक 5

## विमर्श

9
*यशदेव शल्य*
**शिक्षा का अर्थ और उद्देश्य**

13
*मुनि मदनकुमार*
**निर्जरा तत्त्व : एक विमर्श**

19
*कृष्णकुमार*
**अपसंस्कृति की ध्वजा**

•
*आवरण*
**खेराज**

## अनुभूति

23
*आचार्यश्री महाप्रज्ञ*
**असमाज का प्रवर्तन**

28
*चतरसिंह मेहता*
**कोई नहीं अपना : जग है सपना**

32
*साध्वी श्रुतयशा*
**ऋषभायण में विरोधाभास अलंकार**

35
कहानी
*ज्योत्स्ना मिलन*
**गांठें**

40
कविता
**रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताएं**

## प्रसंग

5
*शुभू पटवा*
**अर्जन-विसर्जन और शिक्षा**

## शीलन

45
*मुनि आनंदकुमार (कालू)*
**ऋषभ : राजतंत्र से धर्मचक्र तक**

49
*धर्मानन्द कोसम्बी*
**खेती—नीतिमत्ता की**

51
*समणी विपुलप्रज्ञा*
**ऋषभ : सम्यक् राजनीतिक प्रणाली के प्रणेता**

54
बालकथा
*यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'*
**सच्चा सोना**

**संपादकीय पता** : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
**प्रकाशकीय कार्यालय** : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
**प्रधान कार्यालय** : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
**सदस्यता शुल्क** : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

सत्य एक सार्वभौम व्यवस्था का अंश है। यह व्यक्ति से परे है और वैयक्तिक प्रभावों अथवा स्थान और समय की अवस्थाओं से अप्रभावित रहता है। इन सारी बातों का संबंध बाह्य अभिव्यक्तियों से है, आंतरिक वास्तविकता से नहीं। विश्वास, सम्मतियां, सिद्धांत सभी अस्थाई और परिवर्तनशील हैं तथा उनके मूल्य बदलते रहते हैं। इसके विपरीत सत्य शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। 'श्रुति' और 'स्मृति' में यही अंतर है। 'श्रुति' सीधी प्रेरणा है, विशुद्ध अंतःप्रवृत्ति है और 'स्मृति' तर्कसंगत व्यवस्था में उसका प्रतिबिंब है। साधु आत्माओं में इतना अनुशासन और पृथक्त्व होता है कि वे नग्न सत्य के दर्शन कर सकती हैं, किंतु हम लोग तो सत्य को विभिन्न तर्कसंगत रूपों में ही देख पाते हैं। प्रत्येक धर्म का केंद्र-बिंदु सत्य एक ओर समान है। सिद्धांतों में पारस्परिक अंतर अवश्य है क्योंकि वे हैं मानवीय परिस्थितियों पर सत्य के प्रभाव से उत्पन्न। प्रत्येक युग में अपनी विशेषता होती है, जिसका पता उस युग की मान्यताओं से लगता है जो युगविशेष में स्वयंसिद्ध मान ली जाती हैं। सत्य की अभिव्यक्ति किसी प्रकार के शब्दों में नहीं हो सकती, इसलिए सत्य को पूर्णतः परिभाषित नहीं किया जा सकता। सभी परिभाषाएं अनिवार्यतः अनुपयुक्त होती हैं और सच कहा जाए तो भ्रामक होती हैं। प्रत्येक फार्मूला, शब्दों और विचारों में सत्य को बांधने का प्रत्येक प्रयास—जो सीमित अर्थों में सत्य तथा समय और अवसर के अनुकूल होता है—वास्तव में चिंतन-मनन के लिए एक आधार-मात्र है; उसकी सहायता से हम उसे समझने की ओर अग्रसर हो सकते हैं जिसे किसी फार्मूला, प्रतीक अथवा सिद्धांत में बांधा नहीं जा सकता। सिद्धांत उत्तरदायित्वहीन नहीं हैं। हम स्वेच्छा से विचार नहीं कर सकते। और न ही सिद्धांत अनावश्यक हैं। जिस भाषा में सत्य की अभिव्यक्ति की जाती है, उसमें विभिन्न लोगों की आवश्यकतानुसार विकसित बोलियां होती हैं। वे एक लक्ष्य की प्राप्ति के अनेक साधन मात्र हैं। अंतर बहुत आकर्षक किंतु अप्रधान हैं; इकाई ही यथार्थ है।

—डॉ. राधाकृष्णन्

जिन्हें सब प्रकार से हिंसा करने का त्याग नहीं है, वे असंयमी हैं। संयमी वे हैं जिनका जीवन हिंसा से पूर्णतः विरत हो। लोक-दृष्टि में वह जीवन श्रेष्ठ है जो समाज के लिए उपयोगी हो। मोक्ष-दृष्टि में वह जीवन श्रेष्ठ है जो संयमी हो। असंयमी जीवन की इच्छा समाज की उपयोगिता हो सकती है, धर्म नहीं। अपने असंयमी जीवन की इच्छा करना भी पाप है, तब दूसरे के असंयमी जीवन की इच्छा करना धर्म कैसे होगा? मरने-जीने की इच्छा अज्ञानी करता है। ज्ञानी वह है जो समभाव रखे।

**'भिक्षु विचार दर्शन'** से

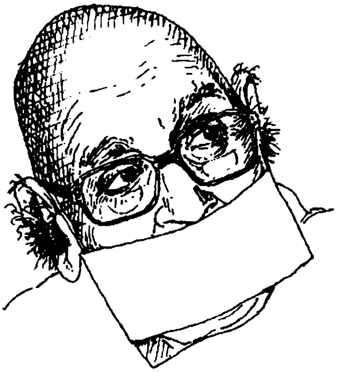

भाषा व्यक्तित्व का आईना है। कौन व्यक्ति किस भाषा में बोलता है, इसके आधार पर उसके व्यक्तित्व का अंकन किया जाता है। मितभाषिता व्यक्तित्व का एक गुण है। कम शब्दों में अधिक बात कहने की कला विरले व्यक्तियों में होती है। जो व्यक्ति इस कला में निष्णात होते हैं, वे अपनी ऊर्जा का व्यय किए बिना काम करते रहते हैं। अधिक बोलने की आदत साधना की दृष्टि से उचित नहीं है, शिष्टता भी इसे ठीक नहीं मानती। सत्य, सीमित और हितकर भाषा का मूल्य हर परिस्थिति में सुरक्षित रहता है।

भाषा का संबंध वाणी और लेखनी—दोनों के साथ है। भाषा वह सेतु है, जो व्यक्ति को समाज के साथ जोड़ता है। भाषा न हो तो एक-दूसरे के भावों को समझने के लिए केवल संकेत ही बचा रहता है। भाषा की तुलना में संकेत बहुत दुर्बल रह जाता है। भाषा के साथ संकेत का उपयोग होने से अभिव्यक्ति और अधिक सशक्त बन जाती है।

**—आचार्यश्री तुलसी**

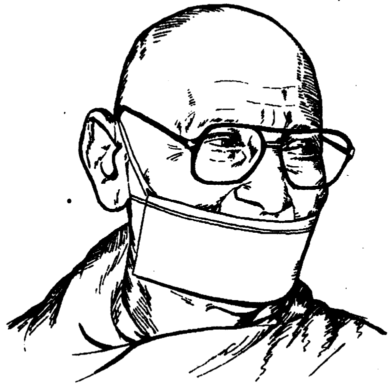

अध्यात्म की भूमिका गहरी और ऊंची है किंतु एक बार उसे छोड़कर अध्यात्म का व्यावहारिक लाभ देखें तो वह भी बहुत है। व्यक्ति का मूल्यांकन आध्यात्मिक भावना से ही हो सकता है। अभ्यास-दृष्टि के बिना आदमी को आदमी की दृष्टि से नहीं आंककर उपयोगिता की दृष्टि से आंका जाने लगता है, जैसा आज अंकन हो रहा है। वस्तु का मूल्यांकन सही और शुद्ध दृष्टि से न होकर उपयोगिता की दृष्टि से होना अध्यात्म का अभाव है। किसी वस्तु का मूल्य कितना है—वह उसकी उपयोगिता पर निर्भर होने लगता है। आजकल वृद्धजनों की उपयोगिता में संदेह करते हुए, कहीं-कहीं उन्हें गोली मारने का भी स्वर उभरता है और अनेक घरों में तो आज वृद्धों को किसी कोने में डालकर घंटी बजाने पर रोटी-पानी देने मात्र के योग्य समझा जाने लगा है, क्योंकि उनकी उपयोगिता नहीं है। ऐसी स्थिति अध्यात्म के अभाव की परिचायक है। हमारी दृष्टि जब तक उपयोगिता की रहेगी, हम वस्तु के अस्तित्व का मूल्य नहीं आंक सकेंगे।

प्रत्येक वस्तु का स्वतंत्र अस्तित्व होता है और उस अस्तित्व को जानकर मूल्यांकन अध्यात्म-दृष्टि का कार्य है। अष्टावक्र ऋषिकुमारों की सभा में पहुंचे तो सारे ऋषिपुत्र उनके आठ स्थानों से टेढ़े-मेढ़े शरीर को देखकर हंस पड़े। अष्टावक्र ने अपने संबोधन में कहा—मैं चर्मकारों की सभा में उपस्थित हुआ हूं जहां मेरे अध्यात्म को नहीं केवल बाह्य चमड़े को देखा जा रहा है। ऐसा क्यों हुआ? क्योंकि ऋषिपुत्रों के पास अध्यात्म-दृष्टि का अभाव था। उनकी वह दृष्टि धूमिल थी। भारत की उस आध्यात्मिक-दृष्टि का ह्रास हुआ है और वह दृष्टि धुंधली हो रही है। आचार्यश्री तुलसी वही अध्यात्म-दृष्टि देना चाहते हैं। वे आध्यात्मिक अनुभूति देते हैं। जो उसे प्राप्त कर लेता है, उसे शांति का रहस्य प्राप्त हो जाता है।

**—आचार्यश्री महाप्रज्ञ**

## प्रसंग

# अर्जन-विसर्जन और शिक्षा

विसर्जन की चर्चा होते ही कृष्ण और सुदामा का प्रसंग स्वतः स्मरण हो आता है। शायद ही ऐसी अन्य घटना हो विसर्जन की—जैसी कि कृष्ण की रही है। अपने सखा सुदामा की पोटली खोल तीन में से दो मुट्ठी चावल फांकते हुए कृष्ण ने अपना समूचा वैभव सुदामा को दे डाला और अगली मुट्ठी मुंह में लेने से पहले कृष्ण को टोकते हुए रोका ही गया कि अब कुछ अपने लिए भी तो रख छोड़िए! तब कृष्ण तीसरा ग्रास लेने से पहले ठिठक गए, उनका हाथ आगे नहीं बढ़ा। कृष्ण की यह 'लीला' ही मानें—क्योंकि मान्यता यही है कि कृष्ण ने सब-कुछ 'लीला-भाव' से ही किया। तब भी यह तो मान ही लेना होगा कि विसर्जन की ऐसी घटना विरल है और इससे प्रेरणा ली जानी चाहिए।

हमारे इतिहास में भामाशाह भी ऐसे व्यक्तित्व हुए हैं जिन्होंने 'राष्ट्रभक्ति' की भावना से अपना सब-कुछ विसर्जित कर देने की पहल की थी और स्वाधीनता के संघर्ष में महाराणा को विश्वास दिलाया था कि संसाधनों की कमी के नाम पर पराधीनता कबूल न करें।

बहुत पुरानी बात नहीं, स्व. सोहनलालजी दूगड़ का स्मरण करना एक तरह से ऋणमुक्त होना ही माना जाएगा कि किस तरह वे जो-कुछ अर्जित करते थे, विसर्जित भी कर डालते थे। यह करते हुए दूगड़जी के मन में भी कृष्ण-सरीखा 'लीला भाव' ही बना रहता था। तात्पर्य यह कि कहीं कोई गरूर उन्हें छू नहीं जाता था कि वे दाता हैं। विसर्जन और अर्जन की निरंतर व साथ-साथ चलने वाली ऐसी प्रक्रिया को समाज में सदा सर्वोच्च स्थान मिलता रहा है। ऊपर के उदाहरण प्रमाण हैं कि समाज उन्हें इसीलिए विस्मृत नहीं कर पा रहा है।

दरअसल विसर्जन की क्रिया को विषमता से मुक्ति का मार्ग माना जा सकता है। क्या इसे साधना का, अध्यात्म का हिस्सा भी माना जा सकता है? हमें इस दृष्टि से विचार करना चाहिए। विसर्जन के भाव तभी गतिशील हो सकते हैं जब अनासक्ति की धारा प्रवहमान हो। इसके लिए कई स्तरों पर अलग-अलग प्रयोग चल रहे हैं, लेकिन ऐसे प्रयोगों के प्रभावों पर किसी प्रकार की टिप्पणी करना जरा कठिन है। क्योंकि ऐसे किसी भी प्रयोग या प्रयोगों के निष्कर्ष विधिवत रूप से सामने नहीं आए हैं। अध्यात्म के क्षेत्र में जहां ये प्रयोग हो रहे हैं, वहां मुख्यतः आवेगों के शमन पर ही जोर दिया जाता है। सभी जानते हैं कि समस्याओं के मूल में क्रोध, लोभ, भय, मोह, वासना, घृणा, ईर्ष्या जैसी विकृतियां

ही होती हैं और इनके शमन से ही अनासक्ति की धारा को प्रवहमान रखा जा सकता है। तभी अर्जन-विसर्जन के भाव अधिक व्यापक बन सकते हैं।

लेकिन क्रोध, लोभ, भय, मोह, वासना, घृणा और ईर्ष्या जैसी मानसिक विकृतियों से मुक्ति के लिए धर्म या आध्यात्मिक क्षेत्र से ही प्रमुखतः आवाज उठती है और दुर्भाग्य से वहां से उठ रही हर आवाज को आज संकीर्णता मानकर खारिज कर दिया जाता है। खारिज न भी किया जाए तो यह तो देखते ही हैं कि वहां से उठने वाली इन बातों को यथोचित गंभीरता से कभी नहीं लिया जाता। दूसरी ओर अन्य कोई सशक्त माध्यम भी नहीं है जहां इन विकृतियों के शमन के लिए कुछ ठोस किया जा रहा हो। ऐसी दशा में घन-घोर शून्य ही दिखाई देता है जिस ओर झांकना भी कंपा देने जैसा है। इन मानसिक आवेगों से समाज को मुक्त करने के लिए शिक्षा एक सशक्त माध्यम हो सकता है। पर शिक्षा-तंत्र ने वर्तमान में अपनी जड़ें जिस तरह जमा रखी हैं, क्या इस तंत्र से यह आशा की जा सकती है कि वह इन मानसिक विकृतियों के विरुद्ध कुछ कारगर करेगा?

शिक्षा संबंधी अपने विचारों में महात्मा गांधी ने कहा था—'जिस पाठ्यक्रम से और शिक्षा संबंधी जिन विचारों से वर्तमान शिक्षा का ढांचा बना है, वे आक्सफोर्ड और कैंब्रिज, ऐडिनबरा और लंदन से लाए गए थे। परंतु वे मूलतः विदेशी हैं और जब तक उनका त्याग न किया जाए, राष्ट्रीय शिक्षा असंभव है।' महात्मा गांधी आगे कहते हैं—'हम मानते हैं कि जो लोग वर्तमान व्यवस्था के परिणाम से कष्ट भुगत रहे हैं, जिन्हें उसके कारण समाज में हो रही टूट-फूट का दुख है और जो युवकों की बरबादी पर खिन्न हैं, वे इन सबसे बचने का मार्ग पाकर आभारी होंगे। जो संस्थाएं राष्ट्रीय और सामाजिक परंपराओं की पुनः स्थापना की प्रतीक होंगी, भविष्य का रहस्य उन्हीं के हाथों में होगा।' सन् 1924 में कहे बापू के ये कथन आज भले कितने ही अर्थवान लगते हों, उनकी परिणति कहीं परिलक्षित नहीं हो रही। खुद 'बुनियादी शिक्षा' का ही देश में क्या हाल है—हम सभी जानते हैं।

ऐसी निराशाजनक परिस्थितियों में भी आशा और उम्मीद का प्रत्यूष डूबा नहीं है। शिक्षा के सवाल पर कई स्तरों पर अलग-अलग दृष्टिकोणों से सोचा जा रहा है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने 'जीवन-विज्ञान' के नाम से जो शिक्षा-विधि स्थापित की है उसका आधार ही क्रोध, लोभ, भय, मोह, वासना, घृणा और ईर्ष्या जैसी मानसिक विकृतियों को जड़हीन करना है। कई प्रदेशों में अब 'जीवन-विज्ञान' को वर्तमान शिक्षा-तंत्र का हिस्सा बनाने की दिशा में प्रयत्न होने लगे हैं। यद्यपि यह कहना बड़ा कठिन है कि वर्तमान शिक्षा-तंत्र के साथ 'जीवन-विज्ञान' को जोड़ देने-भर से ही क्या परिवर्तन प्रकट हो सकेगा?

इस दृष्टि से आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह मंतव्य विचारणीय है; वे कहते हैं—'कुछ व्यक्ति केवल अध्यात्म को लेकर बैठे हैं और कुछ केवल बाह्य को पकड़े हुए हैं। दोनों अपने-अपने सिरों को तानकर बैठे हैं। जहां अध्यात्म है वहां व्यावहारिकता का सामंजस्य नहीं है। एकांगीपन ही समस्या है।' निराशा की इस स्थिति में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का यह कथन समन्वय और संबलप्रदायी प्रतीत होता है। सर्वथा निराशाजनक हालात में इतनी आशा तो बची मान ही सकते हैं कि परिवर्तन की चिनगारी को राख होने से बचा लेने जितना काम 'जीवन-विज्ञान' से हुआ है। चिनगारी भी यदि बची रहे, तो यह भी आज के परिप्रेक्ष्य में कम सफलता नहीं है।

अर्जन और विसर्जन को समान रूप से समाज में प्रतिष्ठापित किया जा सके और दोनों ही कार्यों को करते हुए व्यक्ति अनासक्त भाव रख सके—इसके लिए कोई प्रभावी उपाय यदि कहीं हो सकता है तो 'शिक्षा' ही से उसकी आशा की जा सकती है, पर किस शिक्षा से?

इस सवाल का उत्तर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने इस कथन में दे दिया है कि 'एकांगीपन ही समस्या है' और यह सच ही है। कृष्ण, भामाशाह और इसी युग के सोहनलालजी दूगड़ के उदाहरण इसके प्रमाण हैं।

अर्जन का सुख, उसका आनंद विसर्जन में ही समाहित है। अन्यथा यह बोझ है, विषमता है और मानसिक विकृतियों का जंजाल है। इससे मुक्ति का औजार 'जीवन-विज्ञान' हो सकता है। इस पर खुले दिलोदिमाग से इसलिए विचार होना चाहिए कि अर्जन और विसर्जन से ही समस्या-मुक्त श्रेष्ठ समाज का निर्माण संभव हो सकता है।

—शुभू पटवा

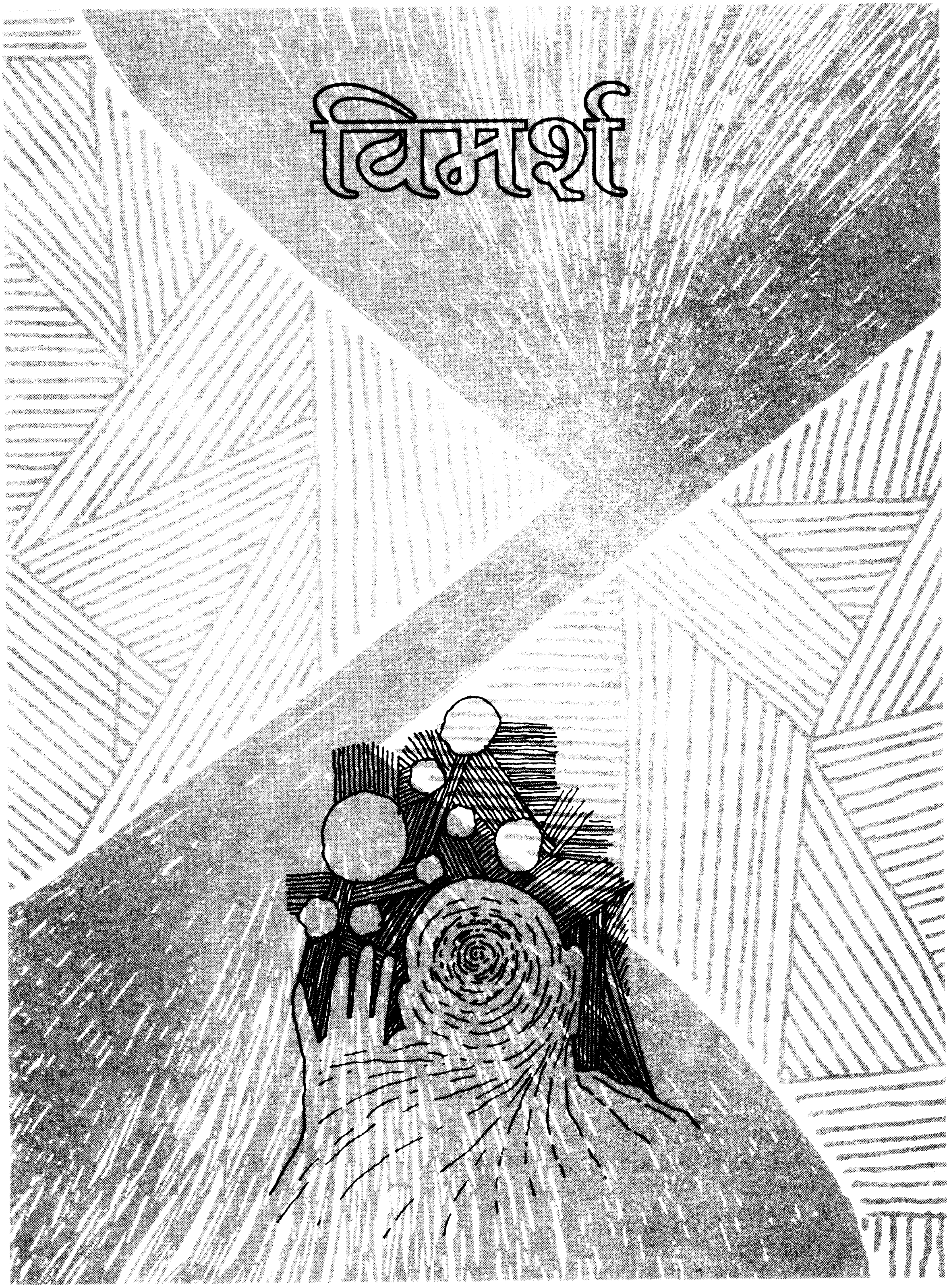
विमर्श

सृजनात्मकता क्या है, यह जब हम सोचते हैं तो क्या हम भारतीय या हिंदू दृष्टि से सोचते हैं? क्या हमारी इसकी अवधारणा पश्चिमी ढंग की नहीं होती? आलोचना सृजनात्मकता का चिंतन है और उसके साथ-साथ चिंतन की सृजनात्मकता भी। और देशों के इतिहास हमें यही सबक देते हैं कि कोई भी जाति तभी तक जीवित रह सकती है, कोई भी संस्कृति तभी तक सक्रिय रह सकती है, जब तक वह गतिशील रहे : यह गतिशील होना सृजनात्मक और आलोचनात्मक—दोनों प्रकार की सक्रियताओं से संभव हो सकता है। हमारे देश का इतिहास क्या कहता है? क्या वे दोनों प्रकार की सक्रियताएं हमारे यहां मौजूद रहीं? हम देखते हैं कि इस धार्मिक संस्कृति में जब तक आलोचना का खुलापन मौजूद रहा, तब तक सृजनात्मकता भी काफी सक्रिय रही। उसके अवरुद्ध हो जाने के साथ-साथ वह भी अवरुद्ध हो गई। एक पूरी-की-पूरी सभ्यता गरुड से कच्छप की योनि में चली गई।

**—रमेशचंद्र शाह**

*शिक्षा इस प्रकार भी दी जा सकती है कि विद्यार्थियों में अभ्यास-वृत्ति बढ़े और इस प्रकार भी कि उनमें दृष्टि (तत्त्वों को देखने की योग्यता) उद्‌बुद्ध हो। हमारे देश में शिक्षा का रूप अधिकांशतः प्रथम प्रकार का ही रहा है। अन्य देशों में इससे कोई भिन्नता है, यह कहना कठिन है। यह बात दूसरी है कि पहले के और आज के समाजों में गति और अभिवृत्ति का अंतर है—पहले के समाजों में एक स्थिरता और पारंपरिकता अधिक थी और आज के समाजों में परिवर्तन बहुत तीव्र गति से हो रहे हैं। इसी के अनुरूप पहले की शिक्षा और आज की शिक्षा में एक अंतर भी दिखाई देता है। आज शिक्षा में भी परिवर्तन की गति तीव्र है। किंतु आज समाज में परिवर्तन की गति का मूल चेतना में नहीं होकर बाह्य उपकरणों के आविष्कारों में है, इसी से शिक्षा में भी परिवर्तन नई दृष्टि के रूप में नहीं होकर पाठ्य-विषयों में परिवर्तन के रूप में ही हो रहा है*

# शिक्षा का अर्थ और उद्देश्य

❑ यशदेव शल्य ❑

'शिक्षा' शब्द मनुष्य के सीखने-सिखाने के अर्थ में ही रूढ़ है, यद्यपि सीखना-सिखाना पशुओं में भी होता है। पशुओं का सीखना-सिखाना शारीरिक या सांवेगिक अभ्यासमूलक होता है जबकि मनुष्य की शिक्षा मन और बुद्धिमूलक होती है। चेतना के ये दो बहुत भिन्न स्तर हैं। ऐसा नहीं है कि पशुओं में बुद्धि नहीं होती, बहुत होती है, किंतु वह जैव प्रयोजनमूलक उपाय-बुद्धिमात्र होती है और वह भी अधिकांशतः आनुवंशिक होती है, स्वतंत्र विचारमूलक नहीं होती। मनुष्य की चेतना का वैशिष्ट्य उसके आत्मचेतन होने में है और यह वैशिष्ट्य उसकी बुद्धि को भी नितांत भिन्न रूप दे देता है। इस चेतना और इस बुद्धि के कारण ही मनुष्य में भाषा का आविर्भाव हुआ और भाषा के माध्यम से ऐसी अर्थ-राशियों का जिनसे सदसद्-विवेक, शास्त्र और विज्ञान तथा काव्य और कलाएं ये सब संभव हुए। अब, कहा जा सकता है कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को इन सबमें दक्षता देना है। शिक्षण संस्थाएं यही करने का प्रयत्न करती भी हैं। किंतु तब भी शिक्षा के उद्देश्य को लेकर कोई ऐकमत्य नहीं है। कुछ लोग शिक्षा का उद्देश्य तीन आर्‌स (रीडिंग, राइटिंग, रिथमैटिक—पढ़ना, लिखना और गणित) सिखाना ही मानते हैं, कुछ दूसरे इसका उद्देश्य चरित्र-निर्माण मानते हैं। यहां आपत्ति हो सकती है कि यद्यपि लिखना, पढ़ना, गणित और चरित्र (सदसद्) आत्मचेतना को पूर्वमान्य करते हैं : चेतना के आत्मचेतन होने पर ही ये सब संभव हो सकते हैं : किंतु ये सब सिखाए इस प्रकार भी जा सकते हैं जैसे पशु को सिखाया जाता है—अभ्यास के द्वारा। कहते हैं कौरव-पांडव जब शिक्षा के लिए द्रोणाचार्य के आश्रम में गए तो उन्हें पहले दिन पढ़ाया गया—सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यान्मा प्रमदः—सत्य बोलो, धर्मपूर्वक आचरण करो और स्वाध्याय में कभी आलस्य नहीं करो। अगले दिन युधिष्ठिर के सिवाय यह पाठ सब ने सुना दिया। युधिष्ठिर यह पाठ जब आगे तीन दिन भी नहीं सुना पाए तो गुरु ने उन्हें डांटा। इस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि 'ये वाक्य याद करने के लिए थोड़े ही हैं, ये तो जीवन में अपनाने के लिए हैं। मैं अभी तक अपने को इसके लिए तैयार नहीं कर पाया था इसलिए आपको नहीं सुना सका।' यह ठीक है। विधि-वाक्य सीखने-सिखाने का तो यही अर्थ होना चाहिए। किंतु इसका एक और पक्ष भी है जो इससे भी पहले आना चाहिए और वह है यह जिज्ञासा कि 'क्यों सत्य ही बोलना चाहिए, असत्य नहीं बोलना चाहिए?' आदि। सदसद्-विवेक में दो पक्ष हैं—'क्या सद् है और क्या असद्' यह भेद-ज्ञान, और 'क्यों सद् सद् है और असद् असद्' यह विमर्श। इनमें पहला पक्ष जबकि दूसरे पक्ष के ज्ञान (विमर्श के निर्णय) को पूर्वगृहीत करता है, शिक्षा में दूसरा पक्ष बाद में सीखने के लिए

स्थगित रखा जाता है और वास्तव में तो यह कुछ थोड़े-से लोगों, जिन्हें दार्शनिक कहते हैं, के लिए छोड़ दिया जाता है, और शेष लोग इस पर अपनी शक्ति का 'अपव्यय' नहीं करते। किंतु मात्र अभ्यास और मात्र विमर्श के बीच की भी एक स्थिति होती है—सहज समझ या सहज ज्ञान की, जिसमें हम मूलगामी तर्क-वितर्क के बिना भी सद् और असद् को पहचान सकते हैं। कहा जा सकता है कि शिक्षा का कार्य विमर्श-बुद्धि का विकास भी होना चाहिए, किंतु उससे अधिक इनको पहचानने वाली सहज बुद्धि को उद्‌बुद्ध करना होना चाहिए। इस सहज बोध के बिना तो धर्म और औचित्य जैसे विषयों में हमें विमर्श भी कुछ नहीं दे सकता, वह केवल भटका ही सकता है। यही बात पढ़ने, लिखने और गणित के संबंध में भी सही है। इनके ज्ञान का अर्थ अभ्यास से आरंभ कर इनसे व्यंग्य अर्थ-राशियों को 'देख सकने' और नई अर्थ-राशियों को सरजने की योग्यता प्राप्त करना होता है।

किंतु शिक्षा इस प्रकार भी दी जा सकती है कि विद्यार्थियों में अभ्यास-वृत्ति बढ़े और इस प्रकार भी कि उनमें दृष्टि (तत्त्वों को देखने की योग्यता) उद्‌बुद्ध हो। हमारे देश में शिक्षा का रूप अधिकांशतः प्रथम प्रकार का ही रहा है। अन्य देशों में इससे कोई भिन्नता है, यह कहना कठिन है। यह बात दूसरी है कि पहले के और आज के समाजों में गति और अभिवृत्ति का अंतर है—पहले के समाजों में एक स्थिरता और पारंपरिकता अधिक थी और आज के समाजों में परिवर्तन बहुत तीव्र गति से हो रहे हैं। इसी के अनुरूप पहले की शिक्षा और आज की शिक्षा में एक अंतर भी दिखाई देता है। आज शिक्षा में भी परिवर्तन की गति तीव्र है। किंतु आज समाज में परिवर्तन की गति का मूल चेतना में नहीं होकर बाह्य उपकरणों के आविष्कारों में है, इसी से शिक्षा में भी परिवर्तन नई दृष्टि के रूप में नहीं होकर पाठ्य-विषयों में परिवर्तन के रूप में ही हो रहा है—कभी डॉक्टरी के लिए अधिक दौड़ लगती है तो कभी इंजीनियरी के लिए, कभी कंप्यूटर के लिए तो कभी लोक-प्रशासन के लिए। किंतु यदि कहें कि समाज और शिक्षा में इस गतिशीलता से समाज में और शिक्षा में अभ्यास-वृत्ति के बजाय दृष्टि की सृजनात्मकता भी अधिक बढ़ रही है तो यह एकदम गलत होगा। यों तो पारंपरिकता से आभ्यासिकता की ही वृद्धि होनी चाहिए और परिवर्तनशीलता से आभ्यासिकता में कमी आनी चाहिए; ऐसा एक सीमा तक हुआ भी है, किंतु आभ्यासिकता में कमी से दृष्टि का पैनापन भी बढ़े, ऐसा कोई नियम नहीं है। इससे समाज के पैर भी उखड़ सकते हैं और एक बदहवासी उत्पन्न हो सकती है। आज वास्तव में यही हो रहा है। दृष्टि की उद्‌बुद्धता के लिए चेतना में आत्मोन्मुखता, आत्म-मनन, आत्म-विमर्श की वृत्ति की अपेक्षा है जो वृत्ति मनुष्य को पशु से अलग करती है, मात्र पारंपरिकता और गतिशीलता का भेद तो वैसा ही है जैसा जुगाली करने वाली पाशव चेतना और झटपट मांस चबा लेने वाली पाशव चेतना का। एक बार मेरे एक मित्र अमेरिका हो कर आए तो वहां के समाज की प्रशंसा में कहने लगे कि वहां लोग दफ्तरों और फैक्ट्रियों आदि में सप्ताह में पांच दिन 12-12 घंटे कड़ी मेहनत करते हैं और फिर दो दिन क्लबों, पिकनिक स्थलों में मौज-मस्ती करते हैं। इस पर मैंने उनसे पूछा, 'वे सोचते कब हैं?' इसका वे कोई उत्तर नहीं दे पाए, किंतु यह प्रश्न उन्हें निरर्थक नहीं लगा। मुझे उनके उस जीवन-विधि के वर्णन से सचमुच बड़ा आतंक महसूस हुआ था, यद्यपि जुगाली-वृत्ति के हमारे समाज से भी मुझे भयानक कोफ्त होती है। आज के समाज अमेरिका के अनुकरण पर इसी बहदवास गतिशीलता की ओर जा रहे हैं—कार्य-कार्य-कार्य और आविष्कारों पर आविष्कार। किंतु यह कार्यपरायणता किस लिए? अधिक मौज-मस्ती का सामान पैदा करने के लिए? कार्य-परायणता तो पहले भी थी, कर्मठता का ही आदर था। विद्यार्थी के लिए कठोर ब्रह्मचर्य का जीवन कठोर कार्यपरायणता का जीवन ही था। लोग कूलरों और हीटरों के बिना काव्यों, कलाकृतियों और शास्त्रों की रचना कठोर परिश्रम से ही करते थे, स्त्रियां चूल्हे-चौके के अतिरिक्त चरखा, चक्की, ओखली आदि के कार्य भी करती थीं। वह सब कार्य ही था और कठोर कार्य। किंतु कार्य का वह रूप आत्ममननात्मकता के विपरीत वृत्ति का नहीं था। इसके अतिरिक्त वह मनोरंजन के तारतम्य में था, उससे कटा हुआ नहीं था। आज के कार्य का रूप मननात्मकता से एकदम विपरीत वृत्ति का है, इसलिए इसमें सृजनात्मकता के लिए भी वैसा अवकाश नहीं है।

इस पर आपत्ति की जा सकती है कि हमारा उपर्युक्त विवेचन अंशतः तो ठीक है, किंतु अधिकांशतः ठीक नहीं है, क्योंकि पारंपरिकता चिंतन को भी स्थिर सरणियों में डाल देती है। पहले जैनों के घर जैन, बौद्धों के बौद्ध और वैष्णवों के वैष्णव ही पैदा होते थे। इतना ही नहीं, नैयायिकों के शिष्य नैयायिक, वेदांतियों के वेदांती और शैवों के शैव ही होते थे। इसी प्रकार, काव्य में वही उपमाएं और रूपक प्रयुक्त होते रहते थे। आज ऐसा नहीं है। यह सही है, किंतु आज पश्चिम में प्रत्येक दशक में नए सिद्धांत पुराने पड़ जाते हैं और काव्य में अभिव्यक्ति-रूप और वर्ण्य-विषय पुराने

पड़ जाते हैं। भारतीय काव्य तक में युग दशकों में आ कर सीमित हो गए हैं। यह परिस्थिति सृजनात्मकता की सूचक नहीं है बल्कि जड़ गति की सूचक है, क्योंकि इसमें नया किसी अंतर्दृष्टि से उद्भूत या दृष्ट नहीं होकर बाह्य परिस्थितिजन्य और अनास्थाजन्य है। आज की नित्य नवीनता एक ओर यांत्रिकीय आविष्कारों से जनित है और दूसरी ओर स्वयं नवीनता को ही मूल्य मान लेने की भ्रांति से जनित। इस पर कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक आविष्कारों का मूल भी तो चेतना में ही होता है, ये कोई चेतना से स्वतंत्र बाह्य प्राकृतिक आयोजन नहीं होते। यह सही है, किंतु यहां यह द्रष्टव्य है कि यह चेतना स्वयं बाह्यतः नियोजित चेतना है, नवीन सत्य की साक्षात्कारी चेतना नहीं है। अवश्य विज्ञान के आरंभिक आविष्कारों में चेतना की वृत्ति नए सत्य के दर्शन की ही थी, किंतु पीछे यह वृत्ति निरंतर यंत्राश्रित ही होती चली गई। आज आविष्कार स्वयं प्रौद्योगिकी का रूप ले चुके हैं इसके अतिरिक्त कि ये अब प्रतिभामूलक नहीं रहकर विशाल प्रयोगशालाओं में अस्तित्व में आते हैं जिनमें व्यक्ति पुर्जों के जैसे काम करते हैं। जहां तक नवीनता का प्रश्न है, यह आज स्वयं में मूल्य और प्रमाण बन चुकी है। आज आपको यदि जीना है तो दूसरों से भिन्न कुछ घड़ कर ही जी सकते हैं। स्वभावतः इस नएपन में अन्वेष्य सत्य नहीं होता, बल्कि प्रतीति ही होती है। साहित्य तक में आज नए प्रयोगों की बात सुनते हैं, जिनका साध्य वैचित्र्य ही होता है, नए अर्थ-लोकों का उद्घाटन या पूर्व दृष्ट अर्थों में गहनतर अंतर्दृष्ट नहीं होता। यही बात दर्शन या अन्य शास्त्रों-विज्ञानों में भी देखी जा सकती है। किंतु यह गतिशीलता किस प्रकार आध्यात्मिक गति-हीनता या अधोगति की प्रापक है, यह हम आज के मनुष्य के अनुसरणों और अभीप्साओं को देखकर अनुमान कर सकते हैं। विज्ञान और यांत्रिकी के क्षेत्र में अवश्य आज निरंतर और तीव्र गति से प्रगति हो रही है, किंतु यह एक बहुत बड़ी कीमत चुकाकर—मनुष्य द्वारा अपने को अपने से बाहर रखने की कीमत पर। गति प्राचीन युगों में भी थी, किंतु उसका क्षेत्र दूसरा था। इसके क्षेत्र अतिप्राकृतिक-अलौकिक विज्ञान, आध्यात्मिक विधाएं और साधनाएं थीं। यह हम यद्यपि प्रायः सभी प्राचीन संस्कृतियों में देख सकते हैं, किंतु कम-से-कम भारत में तंत्र, फलित ज्योतिष और योग की विभिन्न शाखाओं के विकास के रूप में एक ओर—धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टियों के रूप में दूसरी ओर यह गतिशीलता निरंतर देखी जा सकती है। किंतु क्योंकि गतिशीलता के ये क्षेत्र बाह्य नहीं होकर अलौकिक और भीतरी हैं, इसलिए उन युगों में हमें समाज में बाहरी पक्षों में गति-हीनता जैसी ही दिखाई देती है, किंतु उसे गति-हीनता कहना केवल एक प्रकार की दृष्टि-हीनता का द्योतक ही कहा जाएगा।

मनुष्य के इन अन्वेषणों और पर्येषणाओं में दिशा-भेद के अनुसार उसकी शिक्षा की धारणा में भी भेद दिखाई देता है। प्राचीन युगों में शिक्षा अनिवार्यतः लिखने-पढ़ने से संबंधित नहीं थी और इस प्रकार विद्यालय उसके एकमात्र केंद्र नहीं थे—जिस प्रकार आज हैं। उदाहरण के लिए व्यावसायिक शिक्षा के लिए विद्यालय नहीं थे। उस प्रकार की शिक्षा के लिए दूसरी व्यवस्थाएं थीं और वे कोई कम कुशल व्यवस्थाएं नहीं थीं। यही बात कलाओं की शिक्षा के संबंध में कही जा सकती है। आज शिक्षा जैसे व्यवसाय से जुड़ गई है—वैसा पहले कभी नहीं था। इसके प्रमाण रूप में स्त्रियों को पढ़ाने के विरुद्ध दी जाने वाली यह युक्ति प्रस्तुत की जा सकती है कि 'उन्हें कोई सर्विस नहीं करानी है तो उन्हें पढ़ाने की क्या आवश्यकता है?' आज उन्हें 'शिक्षा' इसलिए दी जा रही है कि वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो सकें। किंतु क्या शिक्षा का यह उद्देश्य और अर्थ 'मनुष्य की शिक्षा' का व्यावर्तक लक्षण कहा जा सकता है? चिड़िया अपने बच्चों को उड़ना सिखाती है, इसी प्रकार वह भोजन की व्यवस्था करना और जीवन-रक्षा के दूसरे उपाय भी सिखाती होगी—जहां तक उन्हें ये सिखाने की आवश्यकता है। मनुष्य की शिक्षा के ये विषय बहुत जटिल और विकसित हैं, इसलिए उसके लिए उसे जटिल व्यवस्थाएं करनी पड़ती हैं। किंतु शिक्षा के इन दोनों रूपों में उद्देश्य की दृष्टि से, या इनकी प्रकृति की दृष्टि से, कोई अंतर नहीं कहा जा सकता। यह शिक्षा उन्हें जीवन के संघर्ष के योग्य बनाने के लिए ही होती है, जो उद्देश्य कि पशुओं की 'शिक्षा' में भी रहता है। तब मनुष्य की शिक्षा के उद्देश्य का वैशिष्ट्य क्या हो सकता है? यह वैशिष्ट्य मनुष्य के पशु से वैशिष्ट्य के अनुसार ही होना चाहिए। मनुष्य का वैशिष्ट्य धर्म-बोध, औचित्यानौचित्य-विवेक और काव्य तथा शास्त्र में प्राज्ञता का अर्जन आदि में देखा जाता है, इसी में मानव-शिक्षा का वैशिष्ट्य हो सकता है—मनुष्य को मनुष्यता में श्रेष्ठतर बनाना। इस पर आपत्ति हो सकती है कि धर्माधर्म-विवेक सिखाना विशेष रूप से विद्यालयों का कार्य नहीं हो सकता, यह तो सबसे पहले माता-पिता का और पीछे सभी का परस्पर है। जब शिक्षा की बात की जाती है तब तो विद्यालयीय शिक्षा की बात ही की जाती है और विद्यालयों में तो काव्य-शास्त्र और विज्ञान-व्यवसाय आदि में प्राज्ञता देना ही लक्ष्य हो सकता है।

यह सही है, किंतु धर्माधर्म-बोध, औचित्यानौचित्य-विचार भी साधारण स्तर से लेकर उच्च से उच्चतर स्तरों का हो सकता है। इस बोध में उत्कर्ष देना भी शिक्षा का एक ऐसा उद्देश्य होना चाहिए जो अन्य सब प्रकार की शिक्षा का सहगामी हो, क्योंकि कोई अच्छा वैज्ञानिक, अच्छा काव्यशास्त्री, अच्छा दार्शनिक आदि होने के साथ धर्म-बोध और औचित्य-बोध में बहुत क्षीण भी हो सकता है और यह क्षीणता उसे बहुत हीन स्तर का मनुष्य बना देती है। इसे विचार का आधारभूत उद्देश्य कहा जा सकता है। एक शिक्षा का 'आधारभूत गुण' कहा जा सकता है जो सब विषयों की शिक्षा में रहना चाहिए—वह है 'आत्मचेतना का गुण'। इससे यहां हमारा अभिप्राय है—सब प्रतिपादनों, स्थापनाओं, कथनों को स्वीकार करने से पहले उनके लिए युक्ति की जिज्ञासा करना। जैसे—विज्ञान के संबंध में यह जिज्ञासा कि विज्ञान क्या है? फिर इसके उत्तर के संबंध में यह जिज्ञासा कि यह क्यों ठीक है? आदि।

इन दो—आधारभूत उद्देश्य और आधारभूत गुण—में प्रथम के संबंध में यहां प्रश्न हो सकता है कि यह विद्यालयीय शिक्षा का भाग कैसे हो सकता है? इस शिक्षा का प्रथम पाठ तो आचरणमूलक होता है, तर्क और विमर्शमूलक नहीं। आचरण 'पढ़ाया' नहीं जा सकता। अवश्य कथा-कहानियों के माध्यम से यह एक सीमा तक पढ़ाया भी जा सकता है, किंतु यदि घर के बड़ों का और शिक्षकों का आचरण उसके विरुद्ध होगा तो बच्चा क्या सीखेगा? इसका उत्तर हो सकता है कि यदि शिक्षक पढ़ाने में कुछ और बताता है, या कहानियों में विद्यार्थी कुछ और पढ़ता है, और शिक्षक आचरण कुछ और करता है तो पहले तो शिक्षक स्वयं से ही गर्हित हो जाएगा और फिर शिष्य यह देख सकेगा कि शिक्षक गर्हणीय है। इसलिए धर्माधर्म और औचित्यानौचित्य के विवेक की शिक्षा विद्यालयीय शिक्षा का भी महत्त्वपूर्ण भाग होना चाहिए। किंतु इसके लिए धर्म-शिक्षा की अलग से घंटी नहीं होनी चाहिए बल्कि यह पाठ्य-क्रम में बहुत सूक्ष्म रूप से अंतर्गत बोध के रूप में रहना चाहिए। किंतु यहां यह चेतावनी आवश्यक है कि यह शिक्षा आलोचना-बुद्धि को कुंठित करने वाले विश्वास के रूप में नहीं दे कर इस बुद्धि को जगाते रहने के साथ देनी चाहिए। धर्म और औचित्य-विचार में यह बड़ा दोष रहा है कि इन्हें आलोचना-बुद्धि से दूर आस्था के साथ जोड़ा जाता रहा है। यह बहुत बड़ी भ्रांति है। धर्म से अधिक तर्क-सम्मत दूसरा कुछ क्या हो सकता है? जिस तर्क से धर्म की आचरणीयता और अधर्म की अनाचरणीयता सिद्ध नहीं होती तो यह दोष उस तर्क का ही कहा जाएगा। दूसरी ओर जो धर्म-मत तर्क से सम्मत नहीं है उस धर्म-मत में कोई दृष्टि-दोष है, यह मानना चाहिए। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

**जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है। वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।**

व्यवस्थापक
***जैन भारती***
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

*वस्तुतः सकाम निर्जरा ही श्रेष्ठ है जो शुद्ध करनी द्वारा उत्पन्न होती है और इससे ही जीव मुक्ति के समीप पहुंचता है। अपनी क्रिया की उत्कृष्टता के अनुसार आत्मा न्यूनाधिक उज्ज्वल होती जाती है। यह निर्जरा इच्छाकृत होती है। जब कर्म-क्षय की अभिलाषा से शुद्ध क्रिया की जाती है तभी यह निर्जरा उत्पन्न होती है, अतः यह सहज नहीं, प्रयोगजा है। सकाम निर्जरा प्रयत्नमूलक है, क्योंकि वह कर्म-क्षय की अभिलाषा से कृत उपाय और चेष्टा से होती है।*

# निर्जरा तत्त्व : एक विमर्श

❑ मुनि मदनकुमार ❑

निर्जरा जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। जीव के अंशतः कर्म क्षय से होने वाली आंशिक आत्म-उज्ज्वलता 'निर्जरा' है। यह आत्माश्रित है और आत्मा का निज गुण है। जीव के द्वारा की जाने वाली मन-वचन-काया की शुभ प्रवृत्ति से यह निष्पन्न होती है। निर्जरा तत्त्व की यह सरलतम परिभाषा कही जा सकती है। निर्जरा के अंतर्गत अनुदीर्ण अशुभ कर्म पुद्गलों को शुभ प्रवृत्ति से उदय में लाकर निर्जीर्ण किया जाता है। इससे आत्मा की उज्ज्वलता होती है। इस उज्ज्वलता और इसके साधनभूत बारह प्रकार की तपस्या को 'निर्जरा' कहा जा सकता है। निर्जरा धर्म है, क्योंकि वह आत्मशोधन का मार्ग है। निर्जरा धर्म को व्याख्यायित करते हुए आचार्यश्री भिक्षु ने लिखा—जैसे तालाब का पानी मोरी से निकाला जाता है, हवेली का कूड़ा-कर्कट साफ किया जाता है, नौका का पानी उलीच-उलीचकर निकाला जाता है वैसे ही शुभ प्रवृत्ति के द्वारा कर्मों को अलग कर आत्मा को उज्ज्वल बनाना 'निर्जरा' है।[1]

जीव अनादि काल से आठ कर्मों से युक्त है। इन कर्मों के आगमन का हेतु आश्रव-द्वार है।[2] जीव के प्रति समय कर्म का बंध और उदय चालू रहता है। बंधे हुए कर्म उदय में आकर नष्ट हो जाते हैं। इस तरह कर्म झड़ते रहते हैं और निरंतर उत्पन्न होते रहते हैं। जीव द्रव्य के असंख्यात प्रदेश हैं और प्रत्येक प्रदेश कर्म आने का द्वार है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश से कर्मों का ग्रहण होता है।[3] आत्मा के एक-एक प्रदेश के प्रतिसमय अनंत कर्म लगते हैं।[4] इस प्रकार एक-एक प्रकार के कर्म के अनंत-अनंत प्रदेश, आत्मा के एक-एक प्रदेश के लगते हैं। एक समय में ग्राह्य सब कर्मों का प्रदेशाग्र अनंत है। यह अभव्य जीवों से अनंत गुना अधिक और सिद्ध आत्माओं के अनंतवें भाग जितना होता है।[5] ये कर्म उदय में आकर जीव के प्रदेशों से प्रतिसमय अनंत संख्या में झड़ जाते हैं, परंतु भरे हुए घाव की तरह इन कर्मों का अंत नहीं होता। कर्मों के अंत करने के उपाय को जाने बिना इनका अंत भी संभव नहीं है।[6]

आगम साहित्य में निर्जरा तत्त्व का सातवां स्थान है[7], यद्यपि उत्तराध्ययन में इसका क्रम आठवां है।[8] निर्जरा को समझने के लिए वेदना को समझना जरूरी है। आगम के अनुसार ये दोनों परस्पर प्रतिपक्षी हैं। वेदना का तात्पर्य है—कर्म-भोग और निर्जरा का तात्पर्य है—कर्मों को दूर करना। पहले वेदना होती है, फिर निर्जरा। वेदना कर्म के उदय से होती है। कर्म का उदय दो प्रकार से होता है—प्रदेशोदय और विपाकोदय। इन दोनों प्रकारों से कर्मों का वेदन किया जाता है। प्रदेशोदय में कर्म का साक्षात् फल न भोगकर केवल आत्मप्रदेशों में ही अनुभव या वेदन किया जाता है, जबकि विपाकोदय में कर्म का फल साक्षात् भोगा जाता है। अशुभ कर्मों को विपाकोदय में न आने देना और केवल प्रदेशोदय में ही भोग लेना निर्जरा का प्राण तत्त्व है। उदीरणा के द्वारा उदय में न आए कर्मों को उदय में लाकर भोग लेना ही निर्जरा है, किंतु वह शुभ योग द्वारा और कर्म क्षय की प्रेरणा से प्रेरित होना चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र का निर्देश है—'कडाण कम्माण ण मोक्ख अत्थि'—किए हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता। निर्जरा तत्त्व के अंतर्गत कृत कर्मों को प्रदेशोदय में ही भोगा जाता है, विपाकोदय में नहीं। कदाचित् निर्जरा की करणी करते समय असात वेदनीय कर्म का उदय हो सकता है, किंतु उस स्थिति

को अतिरिक्त कर्म-निर्जरा का अवसर ही मानना चाहिए। बोलचाल की भाषा में कर्म की निर्जरा कह दिया जाता है, किंतु वास्तव में कर्मों की वेदना होती है, निर्जरा नहीं। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है। भगवती सूत्र के सातवें शतक में कहा गया है कि जीव जिस समय कर्म का वेदन करता है उस समय निर्जरा नहीं करता और जिस समय निर्जरा करता है उस समय वेदन नहीं करता। अन्य समय वेदन करता है और अन्य समय निर्जरा करता है, वेदना का समय भिन्न है और निर्जरा का समय भिन्न है।

आगम-साहित्य में कहा है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—ये चार मुक्ति के मार्ग हैं।[9] इस मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव सुगति में जाते हैं।[10] षट् द्रव्य और नव पदार्थों के गुण और पर्याय के यथार्थ ज्ञान को सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। नव तथ्यभावों का स्वभाव से या उपदेश से भावपूर्वक श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन अथवा सम्यक्त्व है। चारित्र कर्माश्रव को रोकता है और तप बंधे हुए कर्मों का परिशाटन करता है।[11] भगवान ने कहा है—'संयम और तप से पूर्व कर्मों का क्षय कर जीव समस्त दुखों से रहित होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।'[12] धर्म मुक्ति का अनुपम साधन है और वह संवर तथा निर्जरा रूप—द्विधात्मक है। चारित्र संवर का हेतु है और तप निर्जरा का हेतु है। संवर और निर्जरा ही ऐसे उत्तम गुण हैं जिनसे सद्ज्ञानी और सम्यक्-दृष्टि जीव को निर्वाण की प्राप्ति होती है। तप को चारित्र की तरह ही जीव का लक्षण कहा है। तप निर्जरा का ही दूसरा नाम है, अतः निर्जरा जीव का लक्षण है। निर्जरा और तप में कार्य-कारण संबंध है। बारह प्रकार की तपस्या से ही निर्जरा होती है। यह संपूर्ण तप शुभ योग है और वही निर्जरा का एकमात्र साधन है। तप के महत्त्व को बताते हुए आगम में कहा है—'जब अनास्रवी जीव तप से संचित पाप कर्मों का शोषण करता है, तब पाप कर्मों का क्षय होता है। जिस प्रकार कोई बड़ा तालाब जल के आने के मार्ग का निरोध करने और जल को उलीचने से क्रमशः सूख जाता है, उसी प्रकार संयमी पुरुष के पाप कर्म आने के मार्ग का निरोध होने से करोड़ों भवों के संचित कर्म तपस्या के द्वारा निर्जीर्ण हो जाते हैं।'[13] जीव अनादिकालीन कर्म-बंध से संसार में भ्रमण कर रहा है। जब तक जीव कर्मों से मुक्त नहीं होता तब तक निर्वाण प्राप्त नहीं होता—'नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।'[14] जो संयम और तप से युक्त नहीं उस अगुणी की कर्मों से मुक्ति नहीं होती—'अगुणिस्स नत्थि मोक्खो।'[15]

मोक्ष-प्राप्ति के दो उपाय हैं—(1) नए कर्मों का संचय न होने देना और (2) पुराने कर्मों को क्षीण करना। संवर प्रथम उपाय है। वह नवीन मलीनता को उत्पन्न नहीं होने देता। अतः आत्मशुद्धि का प्रबल उपक्रम है। निर्जरा द्वितीय उपाय है। वह बंधे हुए कर्मों को दूर करती है। इन दोनों उपायों की निष्पत्ति हैं—संपूर्ण आत्मोदय। आत्म-स्वरूप के प्रकटीकरण का यही एकमात्र राजमार्ग है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत श्रद्धा और चारित्र तथा अनंत वीर्य—ये जीव के स्वाभाविक गुण हैं। चार घाती कर्मों के उदय से ये आवृत्त, विकृत और प्रतिहत हो जाते हैं, जिससे आत्मा का अनंत चतुष्ट्यात्मक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता है। ज्ञानावरणीय कर्म अनंत ज्ञान को प्रकट नहीं होने देता—उसे आवृत्त कर रखता है। दर्शनावरणीय कर्म अनंत दर्शन को आवृत कर रखता है। मोहनीय कर्म जीव की अनंत श्रद्धा और चारित्र को प्रकट नहीं होने देता—उसे मोहमुग्ध और विह्वल रखता है। अंतराय कर्म अनंत वीर्य के प्रकट होने में बाधक होता है। इस तरह ज्ञानावरणीय आदि चारों कर्म जीव के स्वाभाविक गुणों को प्रकट नहीं होने देते हैं। घन—बादलों की तरह वे उनको आच्छादित कर रखते हैं, इससे वे घनघाती कहलाते हैं। इन घनघाती कर्मों का उदय चाहे कितना ही प्रबल क्यों न हो—वह जीव के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य गुणों को संपूर्णतः आवृत नहीं कर सकता। ये शक्तियां कुछ-न-कुछ मात्रा में सदा अनावृत रहती हैं। ज्ञानावरणीय आदि घाती कर्म ज्ञानादि गुणों की घात करते हैं, पर उनके अस्तित्व को सर्वथा नहीं मिटा सकते। यदि मिटा सकते तो जीव अजीव हो जाता। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का सदा-काल कुछ-न-कुछ क्षयोपशम रहता ही है, जिससे ज्ञानादि गुण जीव में न्यूनाधिक मात्रा में हमेशा प्रकट रहते हैं। कहा गया है—'सब जीवों के अक्षर का अनंतवां भाग नित्य प्रकट रहता है, यदि वह भी आवृत होता तो जीव अजीवत्व को प्राप्त होता। अत्यंत घोर बादलों द्वारा सूर्य और चंद्रमा की किरणें तथा रश्मियों का आच्छादन होने पर भी उनका एकांत तिरोभाव नहीं हो पाता। अगर ऐसा हो तो फिर रात और दिन का अंतर ही न रहे। प्रबल मिथ्यात्व के उदय के समय भी दृष्टि किंचित् शुद्ध रहती है। इसी से मिथ्या दृष्टि का गुणस्थान भी संभव होता है।'[16] इसी तरह कर्मों के क्षयोपशम से जीव हमेशा कुछ-न-कुछ स्वच्छ, उज्ज्वल रहता है। जीव प्रदेशों की यह स्वच्छता, उज्ज्वलता निर्जरा है। जैसे-जैसे कर्मों का क्षयोपशम बढ़ता है वैसे-वैसे आत्मा के स्वाभाविक गुण अधिकाधिक प्रकट होते जाते हैं—

आत्मा की उज्ज्वलता बढ़ती जाती है। उज्ज्वलता का यह क्रमिक विकास ही निर्जरा है।

जैन सिद्धांत दीपिका में आचार्यश्री तुलसी ने लिखा—'तपसा कर्मविच्छेदादात्मनैर्मल्यं निर्जरा'—तपस्या के द्वारा कर्ममल का विच्छेद होने से जो उज्ज्वलता होती है, उसे निर्जरा कहते हैं। वस्तुतः तप साधन है और निर्जरा साध्य। तप क्यों करना चाहिए—इसका समाधान दशवैकालिक सूत्र में मिलता है। तप-समाधि के निरूपण में भगवान ने कहा—(1) इहलोक के निमित्त तप नहीं करना चाहिए। (2) परलोक के निमित्त तप नहीं करना चाहिए। (3) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक (ख्याति) के लिए तप नहीं करना चाहिए। (4) निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नहीं करना चाहिए। जो तप पौद्गलिक प्रतिफल की इच्छा से रहित होकर और केवल निर्जरा का अर्थी होकर किया जाता है—वही तप विपुल कर्म-क्षय का साधन बनता है। इस प्रकार भगवान ने केवल आत्मशुद्धि के लिए ही तप करने का निर्देश किया है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—धर्म करने वाला इहलोक और परलोक दोनों की आराधना कर लेता है और दशवैकालिक सूत्र में कहा है—इहलोक और परलोक के लिए तप नहीं करना चाहिए। इन दोनों में विरोधाभास जैसा लग सकता है, किंतु यहां यह समझ लेना चाहिए कि इहलोक और परलोक के लिए जो तप का निषेध है—उसका संबंध पौद्गलिक सुख की आशा से है। तप करने वाले को निराश (पौद्गलिक सुखरूप प्रतिफल की कामना से रहित होकर) तप करना चाहिए। तपस्या का उद्देश्य ऐहिक या पारलौकिक भौतिक सुख-समृद्धि नहीं होना चाहिए। जो प्रतिफल की कामना से विरहित होकर तप करता है उसका इहलोक भी पवित्र होता है और परलोक भी। इस तरह वह दोनों लोकों की आराधना कर लेता है। यह निष्काम तप की शक्ति है। आचार्य भिक्षु ने लिखा—जो इच्छापूर्वक तपस्या करता है वह कर्मों को उदीर्ण कर—उदय में लाकर बिखेर देता है। मोक्ष उसके नजदीक आता जाता है। साधु और सम्यक् दृष्टि श्रावक का उत्कृष्ट कर्म-भार तपस्या द्वारा दूर होता है। और यदि तप में कदाचित् उत्कृष्ट तीव्र भाव आता है तो तीर्थंकर गोत्र तक का बंध होता है। तप करोड़ों भवों के संचित कर्मों को एक क्षण में खपा देता है। तप-रत्न ऐसा अमूल्य है।[18]

तप और निर्जरा—दोनों ही काम्य एवं उपादेय हैं। निर्जरा कैसे होती है, यह जानना महत्त्वपूर्ण है। निर्जरा तत्त्व को समझने के लिए हमें सहज निर्जरा, अकाम निर्जरा और सकाम निर्जरा के स्वरूप पर विचार करना चाहिए। सहज निर्जरा के संदर्भ में आचार्य भिक्षु ने लिखा—

**नरकादिक दुःख भोगव्या,**
**करम घस्यां थी हलको थाय।**
**आ तो सहजां निरजरा हुइ जीव रे,**
**तिणरो न कीयो मूल उपाय॥**

नरकादिक दुखों के भोगने से उदय में आए हुए कर्म घिसकर हल्के हो जाते हैं। जीव की यह सहज निर्जरा होती है। इसके लिए जीव की ओर से जरा भी प्रयास नहीं किया जाता है। अकाम निर्जरा की विवेचना में आचार्यश्री भिक्षु ने लिखा—

**निरजरा तणो कामी नहीं,**
**कष्ट करे छे विविध प्रकार।**
**तिणरा करम अल्प मातर झरें,**
**अकाम निरजरा नो एह विचार॥**

जो निर्जरा का कामी नहीं होता, फिर भी अनेक तरह के कष्ट करता है—उसके कर्म अल्पमात्र झड़ते हैं। यह अकाम निर्जरा का स्वरूप है। सकाम निर्जरा के प्रतिपादन में आचार्यश्री भिक्षु ने लिखा—

**कामी छे एकन्त करम काटण रो,**
**और वंछा नहीं काय जी।**
**ते तो करणी एकंत निरजरा री,**
**तिण सूं करम झड़ जाय जी॥**

जो केवल कर्म-क्षय करने का ही कामी है, जिसे और किसी प्रकार की कामना नहीं है, वही निर्जरा की सच्ची करनी करता है और उसका कर्म-मैल झड़ जाता है।

महान् तत्त्ववेत्ता आचार्यश्री भिक्षु ने कर्म-क्षय के चार हेतुओं पर विचार कर निर्जरा तत्त्व की समीचीन व्याख्या की है। उसे यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

**(1) उदय में आए हुए कर्मों के फलानुभव से**

बंधे हुए कर्म स्थिति (Duration) का परिपाक होने पर उदय में आते हैं। इससे क्षुधा, तृषा, शीत, ताप आदि विविध प्रकार के कष्ट जीव के उत्पन्न होते हैं। वैसे ही सुख भी उत्पन्न होते हैं। सुख-दुख रूप विविध प्रकार के फल दे चुकने के बाद कर्म पुद्गल आत्म-प्रदेशों से स्वतः निर्जीर्ण होते हैं। यह कर्म-भोगजन्य निर्जरा है। इसे कर्म-निर्जरण और विपाकी निर्जरा कहना उचित है। इसमें बंधे हुए कर्म विपाकोदय के द्वारा क्षीण होते हैं। यह क्रम हर जीव के प्रतिसमय चालू रहता है। यह प्रयत्न-सापेक्ष नहीं है। इसे निर्जरा तत्त्व के अंतर्गत भी नहीं मानना चाहिए। यह कर्म-

निर्जरण हर जीव के अनादि काल से चल रहा है और अभव्य तथा मोक्ष न जाने वाले भव्य जीवों के अनंतानंत काल तक चलता रहेगा।

**(2) कर्म-क्षय की कामना से विविध तप करने से**

जो कर्म-क्षय की अभिलाषा से, आत्मशुद्धि के अभिप्राय से बारह प्रकार की तपस्या करता है—उसके सकाम निर्जरा होती है। यह प्रयोगजा निर्जरा है। इसे अविपाकी निर्जरा या अनुपम निर्जरा कहा जा सकता है। अकाम निर्जरा भव्य और अभव्य—सब जीवों के होती है, जबकि सकाम निर्जरा कर्म-क्षय की अभिलाषा से बारह प्रकार की तपस्या करने वालों के ही होती है। चंद्रप्रभ चरित में तप से होने वाली निर्जरा को उपक्रमकृत निर्जरा कहा है। तत्त्वार्थसार में उल्लेख है—कर्मों के फल देकर झड़ने से जो निर्जरा होती है, वह विपाकजा निर्जरा है और अनुदीर्ण कर्मों को तप की शक्ति से उदयावलि में लाकर वेदने से जो निर्जरा होती है वह अविपाकजा निर्जरा है। विपाकजा निर्जरा को सहज निर्जरा कहना चाहिए तथा चंद्रप्रभ चरित में इसे यथाकालजा निर्जरा कहा है जो नरकादि समस्त जीवों के कर्म-भुक्ति से होती है। यह ध्यान रहे कि विपाकजा, यथाकालजा, स्वकाल प्राप्त आदि शब्द सहज निर्जरा को ही अभिव्यक्त करते हैं। आचार्यश्री भिक्षु ने 'उदय में आए हुए कर्मों के फलानुभव से' होने वाली निर्जरा को सहज निर्जरा कहा है। उनके अनुसार यह अप्रयत्नमूलक है। यह बिना उपाय और चेष्टा के होती है। यह इच्छाकृत नहीं, किंतु स्वयंभूत है। इस निर्जरा को स्वकाल प्राप्त, विपाकजा आदि जो विशेषण प्राप्त हैं—वे इस बात को अच्छी तरह सिद्ध करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि आचार्यश्री भिक्षु ने कर्म-भोगजन्य निर्जरा को सहज निर्जरा कहा है, न कि अकाम निर्जरा। इसका कारण यह है कि इस निर्जरा में उन हेतुओं, क्रियाओं और साधनों के प्रयोग का सर्वथा अभाव है जिनसे निर्जरा होती है। यह निर्जरा तो कर्मों के स्वाभाविक तौर पर फल देकर दूर होने से स्वतः उत्पन्न होती है। अकाम निर्जरा तब होती है जब क्रिया-साधन तो रहते हैं, पर उनका प्रयोग कर्म-क्षय की अभिलाषा से नहीं होता। कर्म-भोगजन्य निर्जरा में साधनों का ही अभाव है।

वस्तुतः सकाम निर्जरा ही श्रेष्ठ है जो शुद्ध करनी द्वारा उत्पन्न होती है और इससे ही जीव मुक्ति के समीप पहुंचता है। अपनी क्रिया की उत्कृष्टता के अनुसार आत्मा न्यूनाधिक उज्ज्वल होती जाती है। यह निर्जरा इच्छाकृत होती है। जब कर्म-क्षय की अभिलाषा से शुद्ध क्रिया की जाती है तभी यह निर्जरा उत्पन्न होती है, अतः यह सहज नहीं, प्रयोगजा है। सकाम निर्जरा प्रयत्नमूलक है, क्योंकि वह कर्म-क्षय की अभिलाषा से कृत उपाय और चेष्टा से होती है। यह ध्रुव सत्य है कि कर्मों का परिपाक दो प्रकार से होता है—उपाय से और स्वतः। सकाम निर्जरा उपायकृत होती है और अकाम निर्जरा सहज रूप से स्वतः होने वाली। अकाम निर्जरा सबके होती है और सकाम निर्जरा बारह प्रकार के तपों को करने वाले निर्जराभिलाषी व्यक्तियों के। एक मत के अनुसार सकाम निर्जरा सम्यक्-दृष्टि के ही होती है, वह मिथ्या-दृष्टि के नहीं होती। किंतु आचार्यश्री भिक्षु के अभिमतानुसार सकाम निर्जरा साधु-श्रावक, व्रती-अव्रती, सम्यक्-दृष्टि, मिथ्या-दृष्टि—सबके ही हो सकती है। शर्त इतनी ही है कि तप निरवद्य और लक्ष्य कर्म-क्षय हो। जहां लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं, वहां शुद्ध तप भी सकाम निर्जरा का हेतु नहीं होता।

**(3) कर्म-क्षय की आकांक्षा बिना नाना प्रकार के कष्ट करने से**

एक मनुष्य कर्म-क्षय या मोक्ष की अभिलाषा से तो अनुप्राणित नहीं है, पर वह तृषा, क्षुधा, ब्रह्मचर्यवास, अस्नान, सर्दी, गर्मी, दंश-मशक, स्वेद, धूलि, कष्ट, परीषह आदि से थोड़े या अधिक समय के लिए आत्मा को परिक्लेशित करता है। इस प्रकार के नानाविध कष्ट से कर्मों की निर्जरा होती है। आचार्यश्री भिक्षु के अभिमत से इस प्रकार के कष्टों से भी अल्प मात्रा में कर्मों का क्षय होता है—निर्जरा होती है। पर यह अकाम निर्जरा है, क्योंकि इन कष्टों के करने वाले का लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं है। यहां क्रिया शुद्ध होने पर भी लक्ष्य न होने से जो निर्जरा होती है वह अकाम निर्जरा है। यहां यह समझ लेना चाहिए कि जो कर्म-क्षय की दृष्टि से बारह प्रकार की तपस्या करता है अथवा परीषहों को सहन करता है उसके सकाम निर्जरा होती है और जो बिना ऐसी अभिलाषा के इन तपों को करता है अथवा परीषहों को सहन करता है उसके अकाम निर्जरा होती है।

**(4) इहलोक-परलोक के लिए नाना प्रकार के तप करने से**

मुझे स्वर्ग प्राप्त हो, मेरा अमुक लौकिक कार्य सिद्ध हो, मुझे यश-कीर्ति प्राप्त हो—इस भावना से जो क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण आदि का कष्ट सहन करता है, अथवा तपस्या करता है—उसके अकाम निर्जरा होती है। आचार्यश्री भिक्षु ने कहा—इहलोक और परलोक के हेतु जो तपस्या की जाती है—वह अकाम निर्जरा है। कारण यहां लक्ष्य कर्म-क्षय नहीं, पर लौकिक और पारलौकिक सिद्धि एवं सफलता को प्राप्त करना है। इस संदर्भ में जयाचार्य (आचार्यश्री जयमलजी) ने लिखा—पूजा, श्लाघा आदि के लिए तपस्यादिक निरवद्य प्रवृत्ति से अकाम निर्जरा होती है।

यहां पूजा, श्लाघा आदि की कामना जिनाज्ञा में नहीं है, अतः उससे निर्जरा और पुण्य-बंध दोनों ही नहीं होते हैं। यहां जो तपस्या की जा रही है और भूख-प्यास को सहा जा रहा है—इसमें किसी प्रकार का जीव-वध न होने से यह तप जिनाज्ञा में है। किंतु यह तप निर्जरार्थी बनकर नहीं किया जाता है, इसलिए इससे अकाम निर्जरा होती है। इसके साथ पुण्य-बंध भी होता है। स्मरण रहे—जिनाज्ञा बाहर के कार्य में पुण्य-बंध नहीं होता है। यह सच है कि इहलोक और परलोक के लिए तप नहीं करना चाहिए, दशवैकालिक सूत्र में ऐसे तप करने का निषेध भी है, किंतु यह तप गलत नहीं है, इहलोक और परलोक की कामना गलत है। इस कामना की दृष्टि से ही ऐसे तप का निषेध किया गया है।

महान दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में 'पुण्य के लौकिक उदय की कामना लिए तपस्या मत करो' यह तेरापंथ का ध्रुव सिद्धांत है। धर्म का लक्ष्य भौतिक प्राप्ति नहीं, आत्म-विकास है। भौतिक सुख आत्मा का स्वभाव नहीं है। इसलिए वह न तो धर्म है और न धर्म का साध्य ही। इसलिए उसकी सिद्धि के लिए धर्म करना उद्देश्य के प्रतिकूल हो जाता है। लौकिक और पारलौकिक कामनाओं से प्रेरित तपस्या नहीं होनी चाहिए। क्योंकि वह व्यक्ति को सही दिशा में नहीं ले जाती। फिर भी कोई व्यक्ति ऐहिक और पारलौकिक इच्छा से प्रेरित हो तपस्या करता है—वह तपस्या बुरी नहीं है। बुरा है लक्ष्य। लक्ष्य के साहचर्य से तपस्या भी बुरी मानी जाती है। किंतु दोनों को अलग करें तब यह साफ होगा कि लक्ष्य बुरा है और तपस्या अच्छी।

ऐहिक लक्ष्य से तपस्या करने की आज्ञा नहीं है, इसमें दो बातें हैं—तपस्या का लक्ष्य और तपस्या की करणी। तपस्या करने की सदा आज्ञा है। हिंसा-रहित या निरवद्य तपस्या कभी आज्ञा बाह्य धर्म नहीं होता। तपस्या का लक्ष्य जो ऐहिक है, उसकी आज्ञा नहीं है—निषेध लक्ष्य का है, तपस्या का नहीं। तपस्या का लक्ष्य जब ऐहिक होता है तब वह आज्ञा में नहीं होता—धर्ममय नहीं होता। किंतु करणी आज्ञा बाह्य नहीं होती। इसीलिए आचार्यश्री भिक्षु ने इस कोटि की करणी को जिन-आज्ञा में माना है। यदि यह जिनाज्ञा में नहीं होती तो इसे अकाम निर्जरा नहीं कहा जाता। यहां यह जान लेना चाहिए कि जो अकाम निर्जरा है वह सावद्य करणी नहीं है और जो सावद्य करणी नहीं है वह जिन-आज्ञा बाह्य नहीं है। इसलिए तत्त्व विवेचन के समय लक्ष्य और करणी को सर्वथा एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। ऐहिक उद्देश्य से की गई तपस्या को हेतु की दृष्टि से निस्सार माना गया है, उसके स्वरूप की दृष्टि से नहीं। स्वरूप की दृष्टि से आचार्यश्री भिक्षु ने ऐसी तपस्या में यत्किंचित् निर्जरा और पुण्य-बंध स्वीकार किया है। जैसा कि उन्होंने लिखा है—

**पाछे तो वो करसी सो उणने होय,**
**पिण लाडू खवायां धर्म नहीं कोय।**

आचार्यश्री भिक्षु का यह मौलिक चिंतन था—'अनाज के पीछे तूड़ी या भूसा सहज होता है, उसके लिए अलग प्रयास जरूरी नहीं है। वैसे ही आध्यात्मिक अभ्युदय के साथ लौकिक उदय अपने-आप फलता है। संयम, व्रत या त्याग सिर्फ आत्म-आनंद के लिए ही होना चाहिए। लौकिक कामना के लिए चलने वाला व्रत सही फल नहीं लाता, उससे मोह बढ़ता है।' निष्कर्ष रूप में यही कहना चाहिए कि सर्वश्रेष्ठ तपस्या वही है जो आत्म-शुद्धि के लिए की जाती है, जो सकाम निर्जरा है। उद्देश्य बिना सहज भाव से भूख-प्यास आदि सहन करने से होने वाली तपस्या अकाम निर्जरा है, यह उससे कम आत्म-शोधनकारक है। कर्म-क्षय की आकांक्षा बिना नाना प्रकार के कष्ट करने से और इहलोक-परलोक के लिए नाना प्रकार के तप करने से होने वाली निर्जरा अकाम होने पर भी विकृतिमूलक नहीं है। पौद्गलिक अभिसिद्धि के लिए जो तपस्या की जाती है वह स्वार्थपूर्ति की भावना से होने के कारण शुद्ध रूप की अपेक्षा विकृति भी है। इसीलिए ऐहिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए तपस्या नहीं करनी चाहिए। किंतु कोई कर ले तो वह तपस्या सावद्य होती है, ऐसा नहीं है।

अभव्य आत्म-कल्याण के लिए करणी नहीं करता, सिर्फ बाह्य दृष्टि—पूजा, प्रतिष्ठा, पौद्गलिक सुख की दृष्टि से करता है। क्या ऐसी क्रिया निर्जरा नहीं है? अवश्य ही अकाम निर्जरा है। निर्जरा के बिना क्षायोपशमिक भाव अर्थात् आत्मिक उज्ज्वलता नहीं होती है। अभव्य के भी आत्मिक उज्ज्वलता होती है। दूसरी बात, निर्जरा के बिना पुण्य-बंध होता नहीं है। पुण्य-बंध निर्जरा के साथ ही होता है—यह ध्रुव सिद्धांत है। अभव्य के निर्जरा धर्म और पुण्य-बंध दोनों होते हैं। निर्जरा के कारण वह अंश रूप में उज्ज्वल रहता है और पुण्य-बंध से सद्गति में जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इहलोक आदि की दृष्टि से की गई तपस्या लक्ष्य की दृष्टि से अशुद्ध है, किंतु करणी की दृष्टि से अशुद्ध नहीं है।

यह भी समझ लेना चाहिए कि निर्जरा और निर्जरा की करनी—दो भिन्न तत्त्व हैं। आत्मा का देश रूप उज्ज्वल होना निर्जरा है और जिससे यह निर्जरा होती है वह निर्जरा की करनी है। निर्जरा एक है और निर्जरा की करनी बारह प्रकार की। कर्मों

का देश रूप क्षय कर आत्म-प्रदेशों का देशतः निर्मल होना निर्जरा है और बारह प्रकार के तप, जिनसे निर्जरा होती है, निर्जरा की करनी के भेद हैं। वस्तुतः निर्जरा की एकांत शुद्ध करनी वही है, जिसका एकमात्र लक्ष्य कर्म-क्षय है और वही आत्मा को अनन्य रूप से स्वच्छ करने में समर्थ है।

सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में निर्जरा के दो प्रकार बतलाए हैं—विपाकजा और अविपाकजा। नाना गति और जीव-जातियों में भ्रमण करते हुए प्राणी के शुभाशुभ कर्म क्रम से परिपाककाल को प्राप्त हो, अनुभवोदयावलि में प्रविष्ट हो, फल देकर अपने-आप झड़ जाते हैं। यह विपाकजा निर्जरा है। यह कर्म-क्षय का स्वाभाविक क्रम है। सकाम तप में यह क्रम लागू नहीं होता। वह अपने सामर्थ्य से, जिन कर्मों का उदय-काल नहीं आया होता है, उन्हें भी बलात् उदयावलि में लाकर क्षीण कर देता है। सकाम तप उदयावलि के बाहर स्थित कर्मों को खींचकर उदयावलि में ले आता है। इस तरह उन कर्मों का वेदन ही उनकी निर्जरा होती है। यह अविपाकजा निर्जरा है। अविपाकजा निर्जरा उदीरणा-सापेक्ष है। उदीरणा के द्वारा ही कर्मों को स्थिति-क्षय से पहले उदय में लाया जाता है, यह पुरुषार्थसाध्य है। शुभ योग जीव का पुरुषार्थ है और वह कर्मों की उदीरणा का हेतु है। उदीरणा के द्वारा लंबे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आने वाले कर्म तत्काल और मंद भाव से उदय में आ जाते हैं। उससे आत्मा शीघ्र उज्ज्वल बन जाती है। यहां यह समझ लेना चाहिए कि क्रोध, मान, माया और लोभ की प्रवृत्ति—जो अशुभ योग है, उससे भी उदीरणा होती है। किंतु उससे आत्म-शुद्धि नहीं होती, पाप-कर्मों का बन्ध होता है।

उदीरणा किन कर्मों की की जा सकती है—यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। यह नियमतः सत्य है कि उदीरणा उदयावलिका के बहिर्भूत कर्म-पुद्गलों की ही होती है। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म-पुद्गलों की उदीरणा नहीं होती। यह स्पष्ट है कि उदीरणा अनुदीर्ण कर्मों की ही होती है। कर्म दो प्रकार के होते हैं—एक निकाचित और दूसरे दलिक। निकाचित उन कर्मों को कहते हैं जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता। दलिक उन कर्मों को कहते हैं जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है। निकाचित कर्मों की अपेक्षा जीव परवश है। प्रश्न स्वाभाविक है कि जीव कर्म के अधीन है या कर्म जीव के अधीन? निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनों बातें हैं। जहां जीव उन्हें अन्यथा करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करता वहां वह उस कर्म के अधीन होता है और जहां जीव तप की सहायता से सत्प्रयत्नशील है वहां वह कर्म उसके अधीन होता है। इस तरह दलिक कर्मों की उदीरणा की जा सकती है। उदयकाल से पूर्व कर्मों को उदय में ला, तोड़ डालना, उनकी स्थिति और रस को मंद कर देना—यह सब उदीरणा के द्वारा ही संभव है।

सकाम तप श्रेष्ठ है, वह निर्जरा का प्रवर साधन है। सकाम तप का पात्र कौन है, इस संबंध में भिन्न-भिन्न मत हैं। कई विद्वानों ने साधु को ही इसका पात्र माना है और कइयों ने श्रावक और सम्यक्-दृष्टि को भी। पर मिथ्यात्वी का उल्लेख किसी ने भी नहीं किया। इससे सामान्य मत यह लगता है कि सकाम तप मिथ्या-दृष्टि के नहीं होता। आचार्यश्री भिक्षु ने साधु, श्रावक और सम्यक्-दृष्टि की तरह मिथ्यात्वी के भी सकाम तप माना है—यह विशेष बात है। आचार्यश्री भिक्षु ने मिथ्यात्वी के लिए भी निरवद्य करनी का फल वैसा ही अच्छा बतलाया है जैसा कि सम्यक्त्वी को होता है। मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान में स्थित व्यक्ति के भी निरवद्य करनी से निर्जरा धर्म होता है। उसका निरवद्य पराक्रम जैसे-जैसे बढ़ता है, वैसे-वैसे उसे अधिक निर्जरा होती है। आगम में मिथ्यात्वी को मोक्ष का देश-आराधक कहा गया है, वह निर्जरा धर्म की अपेक्षा से ही है। आचार्यश्री भिक्षु के शब्दों में मिथ्यात्वी के भी शुभ योग होता है और वह उससे कर्मों को क्षीण कर देता है। यह निर्जरा धर्म की व्यापकता है। ❖

**संदर्भ ग्रंथ**


1. आचार्यश्री भिक्षु कृत तेरह द्वार
2. नव पदार्थ—7 (i) प्रथम गाथा
3. उत्तराध्ययन—33/18
4. नव पदार्थ—7 (i)—तृतीय गाथा
5. उत्तराध्ययन—33/17
6. नव पदार्थ—7 (i)—चतुर्थ गाथा
7. स्थानांग—9/6
8. उत्तराध्ययन—28/14
9. उत्तराध्ययन—28/2
10. उत्तराध्ययन—28/3
11. उत्तराध्ययन—28/35
12. उत्तराध्ययन—28/36
13. उत्तराध्ययन—30/5-6
14. उत्तराध्ययन—28/30
15. उत्तराध्ययन—28/30
16. कर्मग्रंथ टीका
17. दशवैकालिक 9/4-6
18. नव पदार्थ 7/2-46, 50, 52


❖❖

*सत्य यदि प्रत्यक्ष दिखने लगे तो सत्य ही क्या रहा? सामाजिक सत्य प्रायः घटनाक्रम के बहुत नीचे छिपे रहते हैं। उन्हें पहचानने के लिए सामान्य मान्यताओं से हटकर झांकना जरूरी होता है। आज की परिस्थिति में, खास तौर से हिंदीभाषी समाज को ध्यान में रखकर झांकें, तो हम देख सकेंगे कि सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद और पश्चिम की अंधी नकल एक ही मनोदशा के दो विकृत परिणाम हैं। हमारी संस्कृति में जड़ तत्त्व की बाढ़ का ही असर है कि हम एक तरफ अपनी समस्याओं का हल अतीत में खोज रहे हैं और दूसरी तरफ पश्चिम के देशों की नकल करने में लगे हैं।*

# अपसंस्कृति की ध्वजा

❑ कृष्णकुमार ❑

महादेवी वर्मा ने 'संस्कृति का प्रश्न' शीर्षक निबंध में लिखा था कि संस्कृति मनुष्य की प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है और इस परिष्कार से पैदा होने वाली विशेषताओं को संरक्षित करती चलती है। ये विशेषताएं ही संस्कृति को वह शक्ति देती हैं जिसकी मदद से वह मनुष्य का, उसकी प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है। इस बात को हम एक सहज रूपक में बदलना चाहें तो कह सकते हैं कि संस्कृति ऐसा विलक्षण साबुन है जो समाज की दैनंदिन धोवन से बनता है। वह जादुई प्रभाव किसका है जो हमारे स्नान से निकले मैले जल को साबुन में बदल देता है?

इस जादुई प्रभाव को समझने के लिए हमें 'मैले' की व्यंजना को फैलाकर देखना होगा। संस्कृति के एक महत्त्वपूर्ण अंग 'भाषा' को लें तो बात आसानी से समझी जा सकती है। महादेवी के तर्क के सहारे चलें तो हम देख सकते हैं कि जो भाषा 'मैली' होने का जितना जोखिम उठाएगी, उतना अधिक वह मंजेगी और उसी अनुपात में विचारों और भावनाओं की अभिव्यक्ति को मांजने की उसकी सामर्थ्य बढ़ेगी। इसके विपरीत, यदि किसी भाषा को शुद्ध रखने का प्रयास किया जाए तो इस प्रयास के फलस्वरूप न वह खुद मंजेगी और न ही उसमें अभिव्यक्ति के परिमार्जन की क्षमता का विस्तार होगा। भाषा के 'मैली' होने से आशय उसका अलग-अलग परिस्थितियों में कई तरह के समूहों द्वारा बरता जाना है। उसे शुद्ध रखने के प्रयास से आशय 'बाहरी' प्रभावों से मुक्त रखने की कोशिश से है। किसी भाषा के संदर्भ में 'बाहरी' और 'भीतरी' का भेद पैदा हो जाना ही इस बात की निशानी है कि उसे 'मैला होने' से बचाने में किसी समूह-विशेष के न्यस्त स्वार्थ लगे हैं। हिंदी को शुद्ध रखने (विशेषकर उर्दू की परंपरा से अलग करने) के पीछे ठीक यही स्थिति रही है।

भाषा की इस मिसाल से हम महादेवी के अर्थ की जड़ में जा सकते हैं। उनकी बात की जड़ यह विश्वास है कि भाषा समेत संस्कृति के विभिन्न तत्त्वों को निखारने वाली शक्ति और कुछ नहीं, सामाजिक जीवन की गतिशीलता है। यदि संस्कृति के किसी पक्ष को समाज के परिवर्तनशील अनुभव का स्पर्श मिलना बंद हो जाए तो वह पक्ष महादेवी की समझ में सांस्कृतिक नहीं रह जाएगा। उस पक्ष में ऐसे अवयव बढ़ते जाएंगे जो मनुष्य की प्रवृत्तियों का परिमार्जन नहीं करते। इन अवयवों के बढ़ने से संस्कृति की वह ताकत कमजोर पड़ती जाएगी जो सामाजिक जीवन में शरीक प्रवृत्तियों के परिमार्जन से पैदा हुई विशेषताओं का संचय करती है।

इन अवयवों को संस्कृति के जड़ तत्त्व कहना अनुचित न होगा। जड़ से आशय होता है मरा हुआ— जिस तत्त्व का जीवित दुनिया से संपर्क कट जाए, वह मृत ही है। उसे कितना ही चमचमाकर दिखाया जाए, कितने ही पवित्र आग्रहों के साथ परोसा जाए, रहेगा तो वह मृत ही। ऐसे अवयवों में जीवन के चिह्न ढूंढ़ना बेकार है। पत्थर को तोड़िए, घिसिए तो बहुत-से-बहुत एक चिंगारी निकलेगी, अंकुर नहीं निकल सकता। आखिर पत्थर कोई बीज नहीं है। फिर भी यह सच है कि पंचतंत्र की कथा के चार धूर्तों की तरह कुछ समूह पत्थर को बीज की मान्यता दिलाने में सफल हो जाते हैं। धार्मिक पुनरुत्थानवाद का

बढ़ता हुआ प्रभाव ऐसी ही सफलता है। इस प्रभाव के जोर से कई अच्छे-भले ऐसा मानने लगे हैं कि हमारे समाज की समस्याओं का निदान सुदूर अतीत में ढूंढ़ा जा सकता है।

अतीत में दिलचस्पी लेना, उसकी जांच-पड़ताल करना एक बात है, अतीत को महिमामंडित करना, उसमें बैठकर वर्तमान को देखना एक बिल्कुल फर्क बात। अतीतस्थ मन की दशा एक मानसिक बीमारी से कम नहीं। यह बीमारी सबसे पहले कल्पना-शक्ति का नाश करती है, फिर धीरे-धीरे व्यक्तित्व की अन्य ताकतों की तरफ बढ़ती है। तर्कशक्ति कमजोर पड़ती जाती है, लचीले ढंग से सोचना नामुमकिन हो जाता है, सूझबूझ जाती रहती है। दिमाग क्षणिक आवेगों पर काबू पाने में ही सारी शक्ति लगा देने को व्याकुल रहने लगता है और इस काम के लिए उसे किसी सख्त आस्था की जरूरत रहती है। ऐसी आस्था किसी व्यक्ति या संगठन में हो सकती है और किसी कार्यक्रम में भी। आस्था के प्रभाव से वह व्यक्ति (जो प्रायः नेता हुआ करता है) या संगठन एक मिथक बन जाता है और उसका दिया हुआ कार्यक्रम एक नियति दिखने लगता है। इस मनोदशा से ग्रस्त आदमी एक खोल में रहने लगता है जिसमें न तो कहीं से विचार का प्रवेश संभव रहता है, न किसी के भावनात्मक स्पर्श के पहुंचने की गुंजाइश रहती है।

यदि ऐसी मनोदशा किसी समाज के खासे बड़े हिस्से में फैल जाए तो उसके कुछेक अप्रत्याशित-से दिखने वाले परिणाम हो सकते हैं। जो समाज अपनी कल्पना-शक्ति और मानसिक लोच खो दे, वह अन्य समाजों और संस्कृतियों की नकल करने के लिए एक तरह से मजबूर ही है। लेकिन ये चीजें जिस तरह घटित होती हैं, उसे देखकर लगता है कि सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद विदेशी संस्कृतियों की नकल का विरोध कर रहा है। सत्य यदि प्रत्यक्ष दिखने लगे तो सत्य ही क्या रहा? सामाजिक सत्य प्रायः घटनाक्रम के बहुत नीचे छिपे रहते हैं। उन्हें पहचानने के लिए सामान्य मान्यताओं से हटकर झांकना जरूरी होता है। आज की परिस्थिति में, खास तौर से हिंदीभाषी समाज को ध्यान में रखकर झांकें, तो हम देख सकेंगे कि सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद और पश्चिम की अंधी नकल एक ही मनोदशा के दो विकृत परिणाम हैं। हमारी संस्कृति में जड़ तत्त्व की बाढ़ का ही असर है कि हम एक तरफ अपनी समस्याओं का हल अतीत में खोज रहे हैं और दूसरी तरफ पश्चिम के देशों की नकल करने में लगे हैं।

ये दोनों ही प्रवृत्तियां अपसंस्कृति को बढ़ावा दे रही हैं। जहां संस्कृति मनुष्य के जीवन को परिमार्जित करती है, वहां अपसंस्कृति जीवन को खोखला बनाती है। लेकिन ऊपर से देखने से अपसंस्कृति की टीमटाम का मुकाबला नहीं। वह पैदल चलने वाले राम को जापानी टोयोटा कार पर देश में घुमाती है। देश को सिर्फ प्रशासनिक नहीं, मानसिक आजादी दिलाने के लिए चिंतित महात्मा गांधी के जन्मदिन पर केबल टी. वी. का हिंदी में पदार्पण अपसंस्कृति का एक जबरदस्त हमला है। वैसे ही टी. वी. के माध्यम से हिंसा से ओतप्रोत जीवन शैली समाज के कोने-कोने में पहुंच रही थी। राज्य इस प्रक्रिया का मूक दर्शक रहता तो उससे हमदर्दी की जा सकती थी, पर वह तो पूरी सक्रियता के साथ संस्कृति के हर प्रतीक की नीलामी में शरीक था। अब राज्य से ज्यादा ताकत रखने वाले व्यापारी संस्कृति के बाजार में आ पहुंचे हैं। वे धार्मिक पुनरुत्थानवाद और पश्चिम के अंधानुकरण—दोनों को निस्संगतापूर्वक पागलपन की हदों तक ले जाने के लिए कटिबद्ध हैं। उनका ध्येय अपसंस्कृति के विष से हमारे दिमाग को इस कदर खोखला बना देना है कि हमारी संतान वह बचा-खुचा मूल्यबोध भी खो बैठे जिसे हमारी पीढ़ी व्यवहार के स्तर पर न सही, केवल स्मृति के स्तर पर सुरक्षित रखने की कोशिश कर रही थी।

अपसंस्कृति की विजय का झंडा आज किस शहर-कस्बे में नहीं देखा जा सकता। बस, गांवों की कसर है; हालांकि सांस्कृतिक और आर्थिक टूटन की जमीन वहां पहले से तैयार है। बहुत देर हो चुकी है, पर यदि इतनी देर से ही सही, संस्कृति के परिमार्जक तत्त्वों को उभारने में हमारी रुचि है तो हमें सबसे पहले अपसंस्कृति की ध्वजा को सार्वजनिक रूप से पहचानना होगा। यह कोई साधारण ध्वजा नहीं, जो दोनों तरफ से एक-सी दिखे। संस्कृति का काम है कि विवेक पैदा करे, अपसंस्कृति तो माया और भ्रम से ही काम लेती है। इसीलिए उसकी ध्वजा एक तरफ से फिरंग है तो दूसरी तरफ से देखने पर बदरंग मिलती है। इतने गहरे स्तर पर अंतर्विरोधी सृष्टि करने वाली शक्ति के सामने टिकने के लिए समाज को आज भारी मनोबल चाहिए, निगाह और कल्पना चाहिए। ये ही वे साधन हैं, जिनके सहारे हम संस्कृति की धारा में उतरा रहे म्रियमाण तत्त्वों को अलग कर सकते हैं। महादेवी ने अपने लेख में संस्कृति के निर्मित और निर्माणाधीन पक्षों में अंतर किया था। आज की परिस्थिति में निर्माण पक्ष का चरितार्थ अपसंस्कृति के फैलते हुए संचार को चुनौती देना ही हो सकता है। ❖

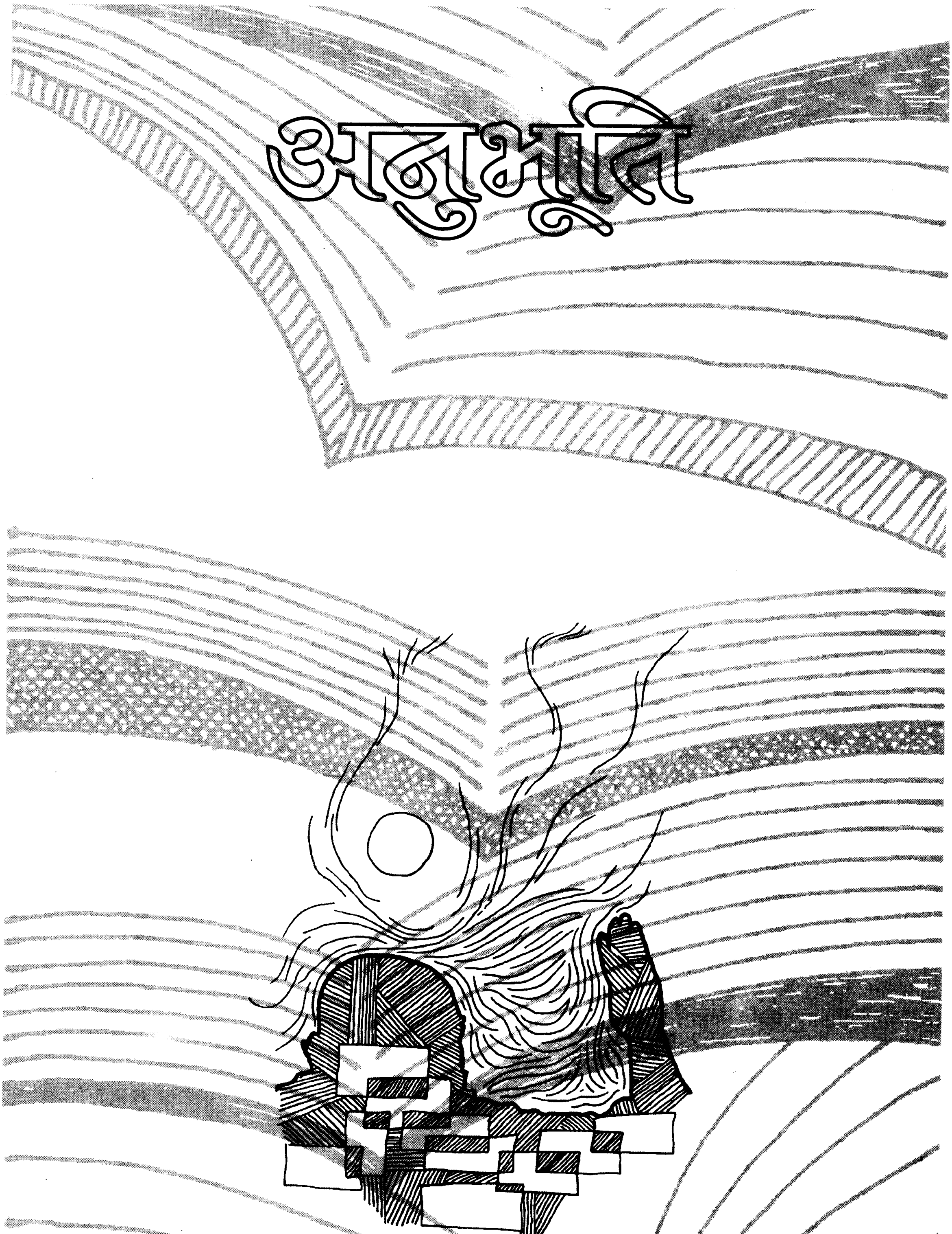
अनुभूति

ऐ खुदा—
तेरे मौसम भी मुझको न बहला सके
मेरी नींदें न ख्वाबों से महका सके
कोई अनदेखा मंजर न दिखला सके
कोई है?
जो अंधेरों के अंबार में
मेरे खोए हुए नक्श को
ढूंढ़कर ला सके?

—कुमार पाशी

*ऋषभ ने सबसे पहले आत्मा का आयाम खोला। उन्होंने कहा—*
*जहां आत्मा है, वहां समता की बात स्वतः फलित होगी। इस तथ्य*
*को स्वीकार किए बिना आत्मा की बात संभव नहीं बनती। ऋषभ की इस उद्घोषणा*
*से मानव समाज को नया प्रकाश मिला। पदार्थ से अधिक मूल्य त्याग का हो गया।*
*पदार्थ का मार्ग समाज का मार्ग है। धर्म का मार्ग, त्याग का मार्ग—*
*असमाज का मार्ग है। वही समाज अच्छा चल सकता है, जिसमें असमाज*
*होता है। जिस समाज में असमाज नहीं होता, वह समाज अच्छा नहीं चल सकता।*
*इसका अर्थ है—कोरा भोग चल नहीं सकता, कोरी हिंसा और कोरा झूठ चल नहीं*
*सकता। भोग त्याग के सहारे चल रहा है। प्रत्येक आदमी त्याग कर रहा*
*है। यदि वह त्याग न करे तो उसे एक ही दिन में भयंकर परिणाम भुगतना पड़े।*

# असमाज का प्रवर्तन

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

हिंदुस्तान में दो प्राचीन परंपराएं—श्रमण और वैदिक परंपरा सर्वमान्य हैं। इनमें कौन कितनी पुरानी है, कौन पहले है और कौन बाद में—यह प्रश्न आज भी अनुसंधान का विषय बना हुआ है। जो बहुत पुरानी होती है, वह अच्छी होती है और जो नई होती है, वह अच्छी नहीं होती—यह व्याप्ति भी ठीक नहीं है। एक नई परंपरा बहुत तेजस्वी और बहुत श्रेष्ठ हो सकती है, जबकि पुरानी परंपरा उसकी तुलना में तेजस्वी और श्रेष्ठ नहीं भी हो सकती। पुराना या नया होना श्रेष्ठता का मापदंड नहीं है।

**भगवान ऋषभ : श्रमण परंपरा**

श्रमण परंपरा बहुत प्राचीन है, इसमें कोई संदेह नहीं है। ऐतिहासिक काल, प्रागैतिहासिक काल—अतीत को जानने के ये दो कोण हैं। इतिहास की सामग्री—पुरातत्त्व, अखनन से प्राप्त सामग्री, सिक्के आदि-आदि के आधार पर इतिहासकाल का निर्धारण किया जाता है। जो उससे भी अतीत है, वह प्रागैतिहासिक काल है।

महावीर इतिहास-पुरुष हैं, पार्श्वनाथ भी इतिहास-पुरूष हैं। उससे आगे इतिहास की वह सामग्री प्राप्त नहीं है, जिसके द्वारा उसके ऐतिहासिक काल का निर्धारण या उसकी कसौटी की जा सके। जैन धर्म का शेष सारा अतीत प्रागैतिहासिक काल की सीमा में आता है। प्रश्न होता है—जैन धर्म का प्रवर्तन कब हुआ? क्या महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन किया?

तीर्थंकर आदिकर होता है। तीर्थंकर किसी का अनुयाई नहीं होता। कोई तीर्थंकर किसी तीर्थंकर का अनुयाई नहीं है। महावीर पार्श्व के अनुयाई नहीं और पार्श्व तीर्थंकर ऋषभ के अनुयाई नहीं हैं। सब आदिकर हैं। प्रश्न हुआ—प्रत्येक तीर्थंकर आदिकर होता है तो तीर्थंकर चौबीस क्यों? चौबीस तीर्थंकरों की शृंखला क्यों? ऐसा माना क्यों गया? यह आज भी विचारणीय विषय है, अनुसंधान का बिंदु है।

सब स्वतंत्र हैं, आदिकर हैं—इस दृष्टि से महावीर भी प्रवर्तक हैं। किंतु जैन धर्म का सबसे पहले प्रवर्तन किसने किया? इस प्रश्न की खोज करते-करते हम उस युग में पहुंच जाते हैं जिसमें युगलों का युग समाप्त होता है और समाज का युग प्रारंभ होता है। समाज के उस आदिम युग में तीर्थंकर भगवान ऋषभ ने सबसे पहले जैन धर्म का प्रवर्तन किया। केवल जैन धर्म का ही नहीं, समग्र श्रमण परंपरा का प्रवर्तन भगवान ऋषभ ने किया। भगवान ऋषभ द्वारा स्थापित परंपरा का नाम है श्रमण परंपरा। उस परंपरा में अनेक संप्रदाय बने—सांख्य संप्रदाय, बौद्ध संप्रदाय, आजीवक संप्रदाय आदि-आदि न जाने कितने संप्रदाय विकसित हुए। उनकी संख्या चालीस तक चली गई। उससे अधिक संख्या भी हो सकती है। जितने अवैदिक संप्रदाय थे, वे सारे

**आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पुण्य स्मरण के साथ**

श्रमण परंपरा में थे। उन सारे संप्रदायों की परंपराओं का प्रवर्तन भगवान ऋषभ से हुआ है।

**इतिहास फूलों का**

भगवान ऋषभ द्वारा प्रवर्तित श्रमण परंपरा का प्रादुर्भाव कैसे हुआ? यह जानना जरूरी है। यह एक रोचक घटना है।

राजा ऋषभ एक दिन उद्यान में गए। वहां पुष्प-क्रीड़ा हो रही थी। फूलों से खेला जा रहा था। फूलों का इतिहास भी बहुत पुराना है। आज के वैज्ञानिक इस तथ्य तक पहुंच गए हैं—लगभग चौदह करोड़ वर्ष पूर्व तक यहां फूल खिलते थे। हो सकता है—वैज्ञानिक एक दिन ऋषभ के युग तक भी पहुंच जाएं। ऋषभ की पुष्पवाटिका अत्यंत मनोहर थी। वसंत का मौसम था। वृक्ष फलों से लदे हुए थे तो लताओं पर फूल खिले हुए थे। विविध प्रकार की क्रीड़ाएं हो रही थीं। ऋषभ का ध्यान उन पर केंद्रित हुआ। कभी-कभी आदमी गहराई में चला जाता है। ऋषभ को वह अद्भुत क्रीड़ा परिचित-सी लगी। उस पर ध्यान गहराया, ध्यान देते-देते ऋषभ अतीत में चले गए। सारा अतीत उनके सामने साक्षात् प्रस्तुत हो गया। उन्होंने सोचा—मैंने यह दृश्य स्वर्ग में देखा था, अमुक स्थान पर देखा था।

**आत्म-मंथन**

जब व्यक्ति अपने भीतर देखना शुरू करता है और अपने जीवन की विविधताओं पर ध्यान केंद्रित करता है तब वह बदल जाता है। रूपांतरण का यही बिंदु है। ऋषभ ने अपना अतीत देखा और उसे देखने के बाद वे विचय में चले गए। वे विचय में गहरे उतरे। उन्होंने गहराई में जाकर अनुभव किया—आज जो फूल खिल रहा है, वह कल मुरझा जाएगा। आज यह बहुत सुंदर लग रहा है, इसका लाल रंग मन को हर रहा है, कल यही पुष्प कचरा बन जाएगा। यहीं पर कचरे का ढेर लगा हुआ है। जो फूल टूटे हुए पड़े हैं उनका कचरा बन गया है। ये फूल भी टूटकर इसका एक हिस्सा बन जाएंगे। यह क्या? यह कैसा जीवन? ऋषभ इस आत्म-चिंतन में डूबते चले गए वे आत्म-मंथन में लीन हो गए। पदार्थ की सारी स्थितियां उनके सामने प्रत्यक्ष हो गईं। पदार्थ की स्थिति क्या है? पदार्थ क्या है? यह जगत क्या है? यह किससे बना है? यह किस प्रकार बनता है? यह फूल किस प्रकार विकसित होता है, खिलता है और किस प्रकार मुरझा जाता है?

**पदार्थ : अपदार्थ**

इस सारे चिंतन से ऋषभ के मन में एक भावना जागी—मैंने समाज का निर्माण किया, समाज की व्यवस्थाएं कीं, राज्य की स्थापना की, राजतंत्र का संचालन किया। सब-कुछ किया पर अभी भी उसमें अधूरापन है। अगर 'पदार्थ विकास' के साथ 'त्याग का विकास' नहीं होगा तो सारा विकास अधूरा रह जाएगा। ऋषभ के मन में एक प्रश्न खड़ा हो गया, एक नई जिज्ञासा पैदा हो गई। उनके मन में एक नई अंतःप्रेरणा शुरू हुई—मुझे पदार्थ के साथ अपदार्थ का विकास करना है। पदार्थ और अपदार्थ—दोनों का संतुलन नहीं होगा तो काम ठीक नहीं चलेगा। उन्होंने इस सचाई का अनुभव किया। ऋषभ ने अपने शासनकाल में पदार्थ को बहुत विस्तार दिया और यह अनुभव भी कर लिया कि जहां पदार्थ है, वहां विषमताएं जन्मे बिना नहीं रहेंगी।

**विषमता है समस्या**

पदार्थ का जगत विषमताओं का जगत है। पदार्थ-विकास विषमता पैदा करता है। जो व्यक्ति शक्तिशाली है, वह ज्यादा इकट्ठा करेगा और जो व्यक्ति कमजोर है, वह पीछे रह जाएगा। इस स्थिति में विषमता का होना अनिवार्य है। जैन दर्शन किसी व्यक्ति को सृष्टि का कर्ता नहीं मानता, किंतु जो सृष्टि का कर्ता मानते हैं—उनकी दृष्टि से विचार करें तो भी कहा जा सकता है—यदि स्वयं परमात्मा भी आ जाए तो वह भी इस दुनिया से विषमता को नहीं मिटा सकता। विषमता को मिटाना कोरी कल्पना है, मन को झूठा आश्वासन देना है। पदार्थ के जगत में विषमता को मिटाना कभी संभव नहीं है।

**ऋषभ का निश्चय**

ऋषभ ने एक नया मार्ग प्रारंभ करने का निश्चय किया। उन्होंने ऐसे मार्ग के प्रवर्तन का संकल्प किया, जहां कोई विषमता नहीं रहे। उनके मानस में यह संकल्प जाग उठा—मुझे त्याग का प्रवर्तन करना है। पुष्पवाटिका को मूर्तरूप देने का निश्चय कर ऋषभ राजमहल में आए। उन्होंने अपनी भावना अपने पुत्र भरत के सामने प्रस्तुत की, जनता के सामने प्रस्तुत की। कोई नहीं चाहता था—ऋषभ हमें छोड़कर जाएं। भरत नहीं चाहता था और न विनीता नगरी का कोई भी नागरिक चाहता था कि ऋषभ का साया, उनकी सुखद छत्रछाया छूट जाए।

भरत ने भगवान ऋषभ से अनुरोध किया—आप हमें इस प्रकार असहाय बनाकर प्रस्थान न करें। जनता ने भी यही निवेदन किया। ऋषभ ने उनकी भावना को स्वीकार नहीं किया। उनका निश्चय दृढ़ था। और एक दिन आया—ऋषभ ने भरत, बाहुबली आदि को अपना राज्य सौंप दिया।

वे राज्य को छोड़ जंगल की ओर चल पड़े। शहर से प्रस्थान कर ऋषभ विनीता ग्राम के बाहर उद्यान में पहुंचे। उनके साथ न-जाने कितनी भीड़ थी! सारी विनीता नगरी उमड़ पड़ी। चार हजार व्यक्ति उनके साथ रहने के लिए चल पड़े। वे पूछ रहे थे—ऋषभ क्यों जा रहे हैं? कहां जा रहे हैं? वे नहीं जानते थे—साधु क्या होता है? उन्होंने न साधु को देखा था और न ही साधु का नाम सुना था। वे कुछ भी नहीं जानते थे, किंतु कच्छ और महाकच्छ के नेतृत्व में वे ऋषभ के साथ चलने के लिए कटिबद्ध थे।

### नया प्रस्थान

भरत ने कहा—कच्छ! महाकच्छ! आप कहां जा रहे हैं?

कच्छ और महाकच्छ ने कहा—हम भगवान ऋषभ के साथ जा रहे हैं।

आप वहां क्या करेंगे? आप मत जाइए।

कुछ भी हो, जहां ऋषभ जाएंगे, वहां कच्छ भी जाएगा, महाकच्छ भी जाएगा, हम सब जाएंगे।

चार हजार की फौज ऋषभ के पीछे चल पड़ी। इस दृश्य को देखने से विनीता का कोई नागरिक वंचित नहीं रहा। यह एक नया प्रस्थान था। संभव है—ऋषभ ने वेश भी बदला होगा? उस समय के चित्र को खींचना बड़ा कठिन है। इस चित्र को कैसे खींचा जाए? उस समय भगवान ने अपना वेश क्या रखा? कैसा वेश रखा? कपड़े रखे तो कितने रखे? किस रंग का कपड़ा पहना? पहली बार क्या किया? यदि ऐसा कोई साधन विकसित हो, जो करोड़ों-करोड़ों वर्ष पूर्व के दृश्यों का—जो तरंगों में व्याप्त है—'फोटो' ले सके, उनकी 'रील' दिखा सके तो हमें कुछ पता चल सकता है। अन्यथा उसकी कल्पना ही की जा सकती है।

### आत्म और समता

ऋषभ विनीता नगरी के उद्यान में खड़े हो गए। उनके साथ चार हजार की फौज खड़ी थी। उनका संकल्प था—जहां ऋषभ रहेंगे, वहीं हम सब रहेंगे। वे चार हजार व्यक्ति ऋषभ के साथ मुनि बन गए, समता धर्म का प्रवर्तन हो गया। समता धर्म के प्रवर्तन का अर्थ है 'धर्मतीर्थ' का प्रवर्तन। श्रमण परंपरा का मुख्य सूत्र है—समता। श्रमण परंपरा और वैदिक परंपरा में मुख्य विभाजक रेखा है—समता। स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार के व्यवसाय बताए गए हैं, उनमें एक है सामायिक व्यवसाय। इसका संबंध श्रमण परंपरा से है। समता का एक अर्थ समानता किया जाता है, पर यह मूल अर्थ नहीं है। समता का अर्थ है आत्मा और आत्मा का अर्थ है समता। जो आत्मा है—वह सामायिक है और जो सामायिक है, वह आत्मा है। आत्मा को स्वीकार किए बिना समता की स्थापना संभव नहीं है। यही एक ऐसा बिंदु है जहां बात की जा सकती है। जो व्यक्ति आत्मा की भूमिका में नहीं है उसे समता की बात करने का अधिकार ही नहीं है।

### आश्वासन और राजनीति

हमारे सामने दो बिंदु हैं—एक आत्मा और दूसरा पदार्थ। पदार्थ के जगत में समता की बात करना राजनीति है। राजनीति में आश्वासन देना होता है, उसमें अगर समता का आश्वासन न दिया जाए तो काम चल नहीं सकता। राजनीति में दिया जाने वाला आश्वासन कितना सच्चा होता है, इसका पता नहीं है, किंतु एक राजनेता का काम आश्वासन देना ही है—यह सभी जानते हैं। घटना द्रष्टव्य है—चुनाव जीतने के लिए राजनेता ने गांव के लोगों को आश्वासन दिया—यदि मुझे जिता दिया तो गांव में पानी आ जाएगा। राजनेता चुनाव जीत गया, पर पानी एक बूंद भी नहीं आया। जब दूसरा चुनाव निकट आया तब नल जरूर लग गए। वह राजनेता फिर चुनाव में खड़ा हुआ। लोगों ने शिकायत की—आपने पिछले चुनाव में कहा था—गांव में पानी आ जाएगा, किंतु अभी तक पानी नहीं आया। राजनेता ने कहा—वही काम चल रहा है। पहले जिताया तो नल लग गया और अब जिताओगे तो पानी आ जाएगा।

राजनीति में इसी तरह आश्वासन दिए जाते हैं। कभी-कभी राजनेता बहुत विचित्र आश्वासन भी दे देते हैं। देखें—एक राजनेता ने गांव का दौरा किया। चुनाव का अवसर था। गांव वालों ने कहा—हमारे गांव में अच्छा श्मशान घाट भी नहीं है, हम आपको क्यों वोट दें? राजनेता बोला—चिंता मत करो। तुम मुझे वोट देकर जिता दो। मैं जीत गया तो हर घर में श्मशान घाट बनवा दूंगा।

### पदार्थ की प्रकृति

आश्वासन राजनीति का धर्म है। जो राजनेता आश्वासन देना नहीं जानता, वह कुशल राजनेता नहीं होता। आज कुशल राजनीतिज्ञ वह है जो प्रातः एक बात कहता है, दोपहर में उस बात को बदल देता है और शाम को यह सिद्ध कर देता है कि मैंने जो प्रातःकाल कहा, वह भी ठीक है और जो मध्याह्न में कहा, वह भी ठीक है।

पदार्थ के जगत में राजनीति भी आएगी, व्यवस्थाएं भी आएंगी, उतरा-चढ़ाव और विषमता भी आएंगे। यह

पदार्थ की प्रकृति है। इसे रोका नहीं जा सकता। पदार्थ के जगत में इसका होना अनिवार्य है। यह व्याप्ति बन सकती है—जहां-जहां पदार्थ का जगत, वहां-वहां विषमता। जहां-जहां विषमता, वहां-वहां पदार्थ का जगत। हमारा यह अनुमान, यह व्याप्ति कहीं खंडित नहीं होगी। केवल आत्मा का जगत ऐसा है जहां समता की बात की जा सकती है।

**पुराना आयाम : नया आयाम**

भगवान ऋषभ ने पदार्थ जगत को तो व्यवस्थित कर दिया था। पदार्थ की सम्यक् व्यवस्थापना के बाद ऋषभ ने आत्मा या समता का एक नया आयाम प्रस्थापित किया। उन्होंने पुराने आयाम की उत्थापना कर नए आयाम की प्रस्थापना नहीं की। पदार्थ के बिना समाज का काम नहीं चलता। उसकी उत्थापना कैसे की जा सकती है?

**जरूरी है प्रतिपक्ष**

ऋषभ ने एक नया आयाम खोला। जगत दो भागों में विभक्त हो गया—पदार्थ का जगत और आत्मा का जगत। स्थूल जगत और सूक्ष्म जगत। मूर्त जगत और अमूर्त जगत। इन सबके बीच संतुलन बनाना होगा। स्थूल और सूक्ष्म, पदार्थ और आत्मा, मूर्त और अमूर्त के संतुलन से ही समस्याएं समाहित होंगी। हमें पदार्थ से कुछ लेना-देना नहीं है—यह सोचना सही नहीं है। पदार्थ के बिना व्यक्ति का काम नहीं चलता, जीवन की यात्रा नहीं चलती। इसी तरह यदि हम केवल पदार्थ में उलझे रहे तो समस्याएं उलझती ही चली जाएंगी। समस्या को सुलझाने के लिए प्रतिपक्ष को खड़ा करना आवश्यक है। प्रतिपक्ष बिना, दो विरोधी युगलों के बिना विश्व चल नहीं सकता। विज्ञान का विद्यार्थी, विज्ञान को पढ़ने वाला जानता है कि कोरा 'मेटर' हो नहीं सकता। अगर मेटर है तो 'एंटीमेटर' भी है। प्रतिपक्ष के बिना दुनिया का काम नहीं चलता।

**आत्मा 'मेटर' से परे है**

लोकतंत्र की कल्पना करने वालों ने बहुत बड़ी सचाई को खोजा। लोकतंत्र में पक्ष के साथ विपक्ष का होना जरूरी है। अगर विरोधी दल नहीं है तो लोकतंत्र ठीक नहीं चल सकता। अनेकांत का सिद्धांत है—विरोधी युगल का होना अनिवार्य है। उसके बिना सम्यक् व्यवस्था संपादित नहीं हो सकती। पर आज विपक्ष का काम पक्ष को कोसना-मात्र रह गया। वे एक-दूसरे के पूरक नहीं हैं। इसलिए वे समस्या को मिटाने में नहीं—उसे उलझाने में, उसका लाभ उठाने में लगे हुए हैं। धर्मास्तिकाय नहीं है तो अधर्मास्तिकाय नहीं हो सकता। धर्मास्तिकाय को अपने अस्तित्व के लिए अधर्मास्तिकाय को स्वीकार करना जरूरी है। लोक है तो अलोक का होना जरूरी है। अनेकांत का यह वैज्ञानिक सिद्धांत है, जो व्यवहार में, लोकतंत्र में आया, पर क्रियान्वित नहीं हो सका। पूरकता के स्थान पर झूठा विरोध करना, एक-दूसरे को गालियां देना, एक-दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करना ही शेष रह गया। यह एक विडंबना है। अनेकांत की सार्थक अभिव्यक्ति है—पदार्थ और आत्मा की स्वीकृति। पदार्थ का सिद्धांत 'मेटर' का सिद्धांत है। आत्मा 'मेटर' से परे है।

**समाज : असमाज**

ऋषभ ने सबसे पहले आत्मा का आयाम खोला। उन्होंने कहा—जहां आत्मा है, वहां समता की बात स्वतः फलित होगी। इस तथ्य को स्वीकार किए बिना आत्मा की बात संभव नहीं बनती। ऋषभ की इस उद्घोषणा से मानव समाज को नया प्रकाश मिला। पदार्थ से अधिक मूल्य त्याग का हो गया। पदार्थ का मार्ग समाज का मार्ग है। धर्म का मार्ग, त्याग का मार्ग—असमाज का मार्ग है। वही समाज अच्छा चल सकता है, जिसमें असमाज होता है। जिस समाज में असमाज नहीं होता, वह समाज अच्छा नहीं चल सकता। इसका अर्थ है—कोरा भोग चल नहीं सकता, कोरी हिंसा और कोरा झूठ चल नहीं सकता। भोग त्याग के सहारे चल रहा है। प्रत्येक आदमी त्याग कर रहा है। यदि वह त्याग न करे तो उसे एक ही दिन में भयंकर परिणाम भुगतना पड़े। एक व्यक्ति चौबीस घंटा निरंतर भोग करता चला जाए, चौबीस घंटा निरंतर खाता चला जाए, चौबीस घंटा निरंतर पीता चला जाए तो परिणाम क्या आएगा? इससे हम अपरिचित नहीं हैं। भोग त्याग के आधार पर चलता है, पर हम इस तथ्य को नकार देते हैं।

**तीर्थ का प्रवर्तन**

भगवान ऋषभ ने पक्ष के सामने प्रतिपक्ष का सिद्धांत प्रस्तुत किया। समाज है तो असमाज का होना जरूरी है। भोग है तो त्याग का होना जरूरी है। पदार्थ है तो अपदार्थ का होना जरूरी है। इसका नाम हो गया—'धर्मतीर्थ का प्रवर्तन'। जब धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होता है तब साधु और साध्वी, श्रावक और श्राविका-समाज निर्मित होता है। यह दूसरे नंबर की बात है। यह तीर्थ का मूल अर्थ नहीं है। तीर्थ का मूल अर्थ है—प्रवचन। भगवान ने जो नया बोध-पाठ दिया, वही तीर्थ का प्रवर्तन हो गया। उपचार से साधु-साध्वियां, श्रावक-श्राविकाएं भी कहलाते हैं। उनके प्रवचन से अनेक व्यक्ति प्रबुद्ध बने, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका बने। ये तीर्थ के चार घटक हैं। तीर्थ के प्रवर्तन,

समता धर्म के प्रवर्तन से समाज के सामने एक नया आदर्श और एक नई भूमिका प्रस्तुत हो गई।

**ऋषभ की तपोभूमि : हिमालय**

भगवान ऋषभ ने हिमालय पर तप तपा। हिमालय भगवान ऋषभ की तपोभूमि रही है। वहां उन्होंने बहुत-कुछ पाया। आज इतिहास की खोज वहां की जा रही है। यह माना जाने लगा है—ऋषभ और शिव दो व्यक्ति नहीं हैं। एक ही व्यक्ति की दो धाराएं बन गईं। एक धारा ने उसका नाम शिव दे दिया और दूसरी धारा में उसका नाम ऋषभ रहा। मूलतः दोनों व्यक्ति एक ही हैं। हमने धारवाड़ विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग में ऋषभ की जटाधारी प्रतिमा को देखा। ऋषभ और शिव—इन दो व्यक्तियों की जटाधारी प्रतिमाएं मिलती हैं। ऋषभ की प्रतिमा धारवाड़ में और शिव की प्रतिमा इंदौर के संग्रहालय में हैं। कहा जाता है—ऋषभ ने दीक्षा लेते समय केश-लुंचन किया। जब चार मुष्टि लुंचन संपन्न हो गया तब इंद्र ने प्रार्थना की—महाराज! यह केश-कलाप कितना सुंदर लग रहा है! क्या आप इसे भी काट देंगे? आप इसे ऐसे ही रहने दीजिए। ऋषभ ने इंद्र की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। उन्होंने एक मुष्टि केश का लुंचन नहीं किया। वह केश राशि बढ़ती चली गई और बढ़ते-बढ़ते नीचे तक पहुंच गई।

**ऋषभ और शिव**

ऋषभ की प्रतिमा देखें या शिव की प्रतिमा। दोनों एक-समान लगती हैं। इन दोनों में कोई अंतर दिखाई नहीं देता। और भी ऐसे अनेक तथ्य हैं जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है—ऋषभ और शिव—ये एक ही व्यक्ति के दो रूप हैं। शिव भी अवैदिक हैं और ऋषभ भी अवैदिक। ऋषभ द्वारा प्रवर्तित समता धर्म जनता के लिए कल्याणकारी हुआ। भगवान महावीर ने भी उसी धर्म का प्रवर्तन किया। पता नहीं, क्या बात है—इतिहास के बाईस तीर्थंकर एक ओर दिखाई देते हैं तथा ऋषभ और महावीर—दूसरी ओर दिखाई देते हैं। कहां पहला बिंदु और कहां अंतिम बिंदु! किंतु दोनों समान रेखा पर अवस्थित नजर आते हैं। उन्होंने जिस तीर्थ का प्रवर्तन किया, समता धर्म का प्रवर्तन किया, वह आज भी हमारे सामने प्रस्तुत है। ❖

---

# जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

**3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001**

दूरभाष : 235 7956/7269, फैक्स : 033 2357269 तार : तेरापंथी

## सूचना

जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा की कार्यकारिणी की बैठक के निर्णयानुसार महासभा की साधारण वार्षिक सदस्यता एवं आजीवन सदस्यता शुल्क में वृद्धि की जा रही है जो इस प्रकार हैं :

**साधारण वार्षिक सदस्यता रु. 151/-**

**आजीवन सदस्यता रु. 1,100/-**

उपरोक्त दरें आगामी 1 जून, 2003 से प्रभावी होंगी।

**तेरापंथी सभाओं के लिए आजीवन सदस्यता शुल्क (एफिलिएशन राशि) रु. 251/- में कोई परिवर्तन नहीं है।**

**तरुण सेठिया**

महामंत्री

*धन में कोई बुराई नहीं है, पद में कोई बुराई नहीं है, इनके सही उपयोग में कोई बुराई नहीं है—परंतु ये सब बाहर की चीजें हैं, इन्हें भीतर भरने की कोशिश करने में भूल हो जाती है। व्यक्ति भीतर से स्वयं को जानने के बजाय कि 'मैं कौन हूं', इस बात में उत्सुक रहता है कि वह दूसरों को जतलाए कि 'मैं कौन हूं' और फिर सारे उपद्रव शुरू हो जाते हैं। 'मैं' का दायरा बढ़ता जाता है और यह धारणा कि बाहर से, दूसरों से सुख मिल सकता है—बलवती होती जाती है। फिर आसक्ति बढ़ती है जो सभी दुखों की जड़ बन जाती है।*

# कोई नहीं अपना : जग है सपना

❑ चतरसिंह मेहता ❑

हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में प्रातः, मध्याह्न, सायं व रात्रि को सुनने के लिए रागों की विभिन्न ऐसी 'कैसेट्स' हैं, जिनका उद्देश्य है कि प्रत्येक काल के अनुसार इनकी ध्वनियां मनुष्य की भीतरी चेतना को प्रभावित करे, जिनकी हर व्यक्ति को खोजने और गहरा करने की चाह रहती है। प्रातःकाल में सुनने वाली रागों की कैसेट में पंडित जसराज ने राग भटियार में एक पंक्ति गाई है—'कोई नहीं अपना, जग है सपना'। प्रातःकाल में गहरे सोच के लिए यह बड़ी मार्मिक पंक्ति है। इस पर निश्चय ही गहराई से विचार होना चाहिए।

**वृथा आशा**

हम दूसरों को अपना इसलिए मानते हैं कि हमें यह आशा रहती है कि दूसरों से हमें सुख मिलेगा—बेटे, मित्र, पति, पत्नी या कोई और। सोचना चाहिए कि इतने वर्षों की जिंदगी हो गई—चाहा था प्रेम, चाहा था सुख, चाही थी शांति, क्या वह फलित हुई? जो मंजिल चाही थी; वह मिली? जो आशाएं की थीं; वे क्या पूरी हुईं? लगभग एक ही उत्तर मिलेगा—जो चाहा सो नहीं मिला। कोई नहीं कहता कि दूसरों से मुझे सुख मिला। जिसने भी कहा कि मुझे सुख मिला—उसने यही कहा, भीतर खोजा, तब सुख मिला। जब तक दूसरों से सुख पाने की कोशिश की तब केवल दुख पाया, कोई आशा पूरी नहीं हुई। दूसरों से सुख मिल सकता है—यह आशा ही व्यर्थ है।

कोई चाहता है, धन मिल जाए, वस्तुएं मिल जाएं तो सुख मिलेगा, आनंद मिलेगा। धन तो बाहर रहेगा, वह भीतर तो जा नहीं सकेगा, भीतर तो निर्धनता ही रहेगी। धन तो तिजोरी में जमा हो सकता है, भीतर आत्मा में तो जमा हो नहीं सकेगा। साथ तो चल नहीं सकता, जो साथ नहीं चल सके वह अपना कैसे हुआ? कहीं भूल हो रही है। वे आशाएं किए जा रहे हैं जो जीवन के शाश्वत नियमों के प्रतिकूल हैं।

बुद्ध एक गांव में गए। उस प्रदेश के राजा ने वजीर से पूछा कि मेरी पत्नी कहती है—बुद्ध के स्वागत के लिए मुझे जाना चाहिए; क्या यह उचित होगा? मैं एक सम्राट और वे एक भिक्षु हैं। उस मंत्री ने जैसे ही यह सुना, कागज उठाया व अपना इस्तीफा लिख दिया। सम्राट ने कहा—कोई ऐसी बात ही नहीं हुई, इस्तीफा क्यों? मंत्री ने कहा कि पद, धन, सत्ता का अहंकार आत्मा के सामने अपने को श्रेष्ठ समझने लगता है, वहां रुकना कठिन है। बुद्ध भिक्षा का पात्र भले ही लिए हों, भिखारी नहीं हैं; सम्राट हैं और आप सम्राट होते हुए भी भिखारी हैं। आपसे यदि कोई यह राज्य छीन ले तो आप 'ना-कुछ' हो जाएंगे क्योंकि आपके पास 'अपना' कुछ भी नहीं है। बुद्ध ने सब-कुछ छोड़ दिया है, फिर भी वे 'सब-कुछ' हैं।

धन में कोई बुराई नहीं है, पद में कोई बुराई नहीं है, इनके सही उपयोग में कोई बुराई नहीं है—परंतु ये सब बाहर की चीजें हैं, इन्हें भीतर भरने की कोशिश करने में भूल हो जाती है। व्यक्ति भीतर से स्वयं को जानने के बजाय कि 'मैं कौन हूं', इस बात में उत्सुक रहता है कि वह दूसरों को जतलाए कि 'मैं कौन हूं' और फिर सारे उपद्रव शुरू हो जाते हैं। 'मैं' का दायरा बढ़ता जाता है और यह धारणा कि बाहर से, दूसरों से सुख मिल सकता है—

बलवती होती जाती है। फिर आसक्ति बढ़ती है जो सभी दुखों की जड़ बन जाती है।

**आसक्ति-अनासक्ति**

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने आसक्ति को समझाते हुए कहा है कि आसक्ति का पहला परिणाम है—स्वार्थ। जितनी आसक्ति बढ़ेगी, उतना स्वार्थ बढ़ेगा। दूसरा परिणाम है—व्यक्तिगत भोग की लालसा। व्यक्ति स्वयं अधिक भोग चाहेगा, दूसरों की चिंता नहीं करेगा। तीसरा परिणाम है—संग्रह। इससे संग्रह की वृत्ति अधिक होगी। स्वार्थ, भोग और संग्रह आसक्ति के परिणाम हैं। इनसे तो दुख ही बढ़ेगा।

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है, 'तस्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः। गुणागुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते।' श्रीकृष्ण अर्जुन से कह रहे हैं—जो व्यक्ति-जीवन गुणों के अनुसार वर्तित हो रहा है और कर्म महाप्रकृति की विराट लीला का हिस्सा हैं, ऐसा जान लेता है, वह कर्म में अनासक्त हो जाता है। ऐसा व्यक्ति कहता है कि विराट का कर्म है, इसलिए मेरा कर्म नहीं है और इसलिए जो भी फलित हो रहा है—हार या जीत, सुख या दुख, प्रेम या घृणा, युद्ध या शांति, जो भी जगत में घटित हो रहा है, प्रकृति के गुणों से घटित हो रहा है। ऐसे व्यक्ति को दुख नहीं होता, सुख नहीं होता। ऐसे व्यक्ति के लिए सफलता-असफलता समान हो जाती हैं, यश-अपयश एक-से लगते हैं।

इस बात की ओर रुझान हो जाए कि इस विश्व में मेरी कोई अलग सत्ता नहीं है, मैं और तू एक है—तो भी अनासक्ति फलित होने लग सकती है। सूरज दस करोड़ मील दूर है, पर यदि सूरज ठंडा हो जाए तो मैं ठंडा हो जाऊंगा। सूरज और मैं जुड़े हुए हैं। जो श्वास ले रहे हैं, वह हवा से जोड़ है। हवा न हो, मैं नहीं रह जाऊंगा। पेड़ और हम जुड़े हुए हैं। वह 'ऑक्सीजन' हमें देता है और 'कार्बनडाइ ऑक्साइड' हम से लेता है। एक का जीवन दूसरे पर निर्भर है—दोनों जुड़े हैं। यदि वह भान हो जाए कि मेरी कोई अलग सत्ता नहीं है, सब एक-दूसरे से जुड़े हैं, सब इकट्ठा हैं, तो मैं किस चीज को मेरा कहूं और किसको पराया। सब उसका है, सब प्रभु का है—जिसने सबको जन्म दिया है, शरीर दिया है, श्वास दी है, सबके भोजन का प्रबंध किया है। ऐसी मनोदशा में अनासक्ति प्रवेश करने लगती है।

एक छोटी-सी घटना है। कबीर के घर बहुत भक्त आते थे। वे सब को भोजन करने को कह देते। कबीर के बेटे कमाल और उनकी पत्नी परेशान हो गए। कब तक कर्ज लें और लोगों को खिलाएं। कबीर ने कहा कि उन्हें खयाल ही नहीं रहता कि घर में कुछ नहीं है। कमाल ने क्रोध में कहा कि क्या हम चोरी करने लगें? कबीर ने कहा—यह खयाल पहले क्यों नहीं बताया? बेटा इस उत्तर से हैरान हुआ, पर कहा कि क्या मैं चोरी करने जाऊं? कबीर ने कहा—हां। बेटे ने परीक्षा लेने के लिए कहा—आप भी चलिएगा? कबीर ने हां भर दी। रात हुई, दोनों साथ निकले। फिर जाकर दीवार तोड़ी। कमाल भीतर गया और गेहूं का बोरा उठा लाया। कबीर ने भी निकलवा दिया और कमाल से कहा कि अब घर में जाओ, लोग सोते होंगे, उन्हें उठाकर कह आओ कि तुम्हारे घर में हमने चोरी की है, गेहूं का बोरा ले जा रहे हैं। तो बेटे ने कहा—यह किस प्रकार की चोरी है? कबीर ने कहा—जो चोरी बताई नहीं जा सकती, वह पाप हो गई, खबर करो। तो बेटे ने कहा कि आश्चर्य है कि आप चोरी करवा रहे हैं? कबीर ने कहा—मुझे याद ही नहीं रहा, क्योंकि जब से यह दिखाई पड़ने लग गया कि सभी एक हैं, तब से कुछ अपना न रहा, कुछ पराया नहीं रहा। कबीर ने कहा—अगर न जगा सकता हो, तो गेहूं का बोरा लौटा दे, क्योंकि अपनों को ही खबर करने में डरते हैं, तो चीज अपनी नहीं है।

कबीर अस्तित्व के तल पर जी रहे हैं, जहां सब चीज परमात्मा की है—मेरी समेत, वहां चोरी नहीं हो सकती, पाप नहीं हो सकता। दूसरा तल भावों का है—जहां मैं हूं, मेरी चीज मेरी है, दूसरे की चीज दूसरे की है, वहां चोरी घट सकती है। श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—न कोई मरता है, न कोई मारता है। श्रीकृष्ण के इस संदेश को कोई ऐसा समझले कि दूसरे को ही मारना, मारना नहीं है तो यह बिल्कुल गलत है। यह भी साथ समझें कि खुद का भी मारा जाना, मारा जाना नहीं है, तब कोई हर्ज नहीं है। कबीर की तरह यह समझ में आ जाए कि अपने-पराए में कोई भेद नहीं है, सभी एक का ही है तो फिर किसी में कोई आसक्ति नहीं रही। इस तरफ श्वास चलती है, वह भी मेरी है और उस तरफ चलती है, वह भी मेरी है।

**अपना क्या**

यहां अपना कुछ भी नहीं है। श्वास भी अपनी नहीं है, देह भी अपनी नहीं है। जैसे-जैसे गहराई से विचार करें, पाते हैं कि मेरे से अतिरिक्त मेरा कुछ भी नहीं है। मन भी मेरा नहीं, वह भी बाहर की तरंगों से आता है। देह भी मेरी नहीं, वह भी बाहर से बनती है और बाहर ही खो जाएगी। अंत में बच रहता है—साक्षी भाव। बस, यही अपना रह जाता है।

राग में बहते हैं तो शरीर मेरा है। शरीर से जो जुड़े हैं, जिनसे रक्त के संबंध हैं, वे मेरे हैं। जिनसे काम-धंधे का

संबंध है, वे मेरे हैं। जिनसे और किसी तरह का संबंध है, वे भी मेरे है। जैसे-जैसे 'मेरे' को बढ़ाते जाते हैं—वह बड़ा होता जाता है। यह फैलाव ही अंधकार में ले जाता है और वास्तविकता का दर्शन नहीं होने देता।

महावीर कहते हैं 'जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेए सु रज्जदि'—जब जीव राग अथवा ममत्व से मुक्त होता है तभी उसे पता लगता है कि श्रेय अथवा श्रेष्ठ, सत्य या समझने योग्य क्या है? तब व्यक्ति को पता लगता है—मेरे को छोड़ते-छोड़ते कि मैं कौन हूं, शुद्धतम कौन हूं—आत्मा, चैतन्य। और यही श्रेयस, शुद्ध ज्ञान है। वे कहते हैं—'णहं देहो ण मणो, चेव वाणी ण कारणं तेसि। कत्ता ण ण कारयिदा, अणुमंता णेव कत्तीणं॥' मैं न शरीर हूं, न मन, न वाणी, न उनका कारण हूं। मैं न कर्ता हूं, न कराने वाला हूं, न कर्ता का अनुमोदक हूं। इसका अर्थ है कि सिवाय मेरे, कोई मेरा नहीं है। मेरा होना ही बस मेरा है। इसी को लेकर आए हैं और इसी को लेकर जाएंगे। न कोई अपना है और न पराया। जहां मैं ठहरा हूं, वहां भी मेरा कुछ भी नहीं है, मात्र एक धर्मशाला है। रात ठहरे हैं, सुबह चल पड़ना है।

बल्ख का सम्राट इब्राहीम हुआ। एक फकीर उसके महल के द्वार पर आया और द्वारपाल को कहने लगा—इस सराय में मुझे ठहरना है। पहरेदार ने कहा—यह सराय नहीं है, बादशाह का महल है, ठहरने की जगह नहीं। फकीर नहीं माना, जोर-जोर से बोलने लगा। फकीर की आवाज बड़ी जादूभरी थी। बादशाह ने यह सब सुना और उसे भीतर बुलाया। फकीर भीतर गया। उसने कहा—'कौन राजा है, तू? इब्राहीम सिंहासन पर बैठा था। कहा कि मैं राजा हूं, यह मेरा निवास है। तुम पहरेदारों से व्यर्थ ही झंझट कर रहे थे।

फकीर ने कहा—बड़ी अजीब बात है। मैं पहले भी आया था, तब दूसरा इस सिंहासन पर बैठा था और वह भी यही कहता था। उस राजा ने कहा—वे मेरे पिता थे, स्वर्गवासी हो गए। फकीर ने कहा—उनके पहले भी मैं आया था, तब एक तीसरा ही आदमी बैठा था। राजा ने कहा कि वे मेरे पिता के पिता थे। तो फकीर ने इब्राहीम से पूछा कि जब मैं अगली बार आऊंगा तो तुम मिलोगे? यहां तो आदमी बदल जाते हैं, मकान वही है। इसीलिए तो कहता हूं। सराय है। तुम भी थोड़े दिन के लिए टिके हो—मेरे ठहर जाने से क्या बिगड़ेगा? सुबह हुई, तुम भी चल पड़ोगे, हम भी चल पड़ेंगे। कहते हैं—इब्राहीम को बोध हुआ, उसने राजमहल छोड़ दिया। बाद में वह बड़ा फकीर हो गया।

हमारे पास अपना कुछ नहीं है। श्वास उसने दी है, वह ही ले रहा है। जिस दिन नहीं आएगी, नहीं आएगी—हम चाहें तो भी एक श्वास ज्यादा नहीं ले सकेंगे। शरीर में जल उसका। देह में मिट्टी के कण उसके। देह में समाया आकाश उसका, और जीवन की धारणा-शक्ति, अग्नि उसकी। चैतन्य, सब उसका। सारी चीजें उसकी हैं।

यहां मेरा कुछ भी नहीं है। जिस दिन यह बात दिखाई पड़ जाती है, उस दिन 'मैं' का भाव मर जाता है, 'मेरा' का भाव तिरोहित हो जाता है। संत कबीर ने भी कहा है—'रे या में क्या मेरा क्या तेरा। लाज न मरहि कहत घर मेरा॥ चारि पहर निसि भौरा, जैसे तरवर पंखि बसेरा।' यदि मैं का भाव मर जाए तो यह समझ में आ जाता है कि जब मेरा कुछ है नहीं, तो छोड़ना क्या और पकड़ना क्या? छोड़ना और पकड़ना—दोनों भ्रांतियां हैं। फिर तो साक्षी की तरह देखना ही शेष रहता है।

**निस्संगता**

एक युवक सूफी फकीर के पास जाता था। उसने फकीर से कहा कि आपके पास आने से भाव उठता है कि मैं फकीर हो जाऊं, परंतु मैं हो नहीं सकता—मेरी पत्नी मर जाएगी, बेटों का क्या होगा? मां-बाप वृद्ध हैं, वे जी नहीं सकेंगे। कई लोगों की मौत हो जाएगी। उसने फकीर से राय मांगी। उस फकीर ने कहा कि मैं दस-पंद्रह दिन तुम्हें श्वास साधने की तरकीब बताता हूं—उसे करो। बाद में एक दिन घर में श्वास साधकर पड़ जाना जैसे मर गए। बाकी आगे मैं संभाल लूंगा। फिर देख लेंगे कि तुम्हारे मरने से कौन मरता है?

उस व्यक्ति ने दस दिन के बाद ऐसा ही किया। पहली रात उसने घर में कह भी दिया था कि धड़कन हो रही है, घबराहट हो रही है। सुबह उसने श्वास साध ली—मर गया। घर में रोना-पीटना चालू हो गया। फकीर आया। घरवालों ने उससे कहा कि आप तो पहुंचे हुए हैं, कुछ चमत्कार कर सकते हैं। फकीर ने कहा—करूंगा, लेकिन इसकी जगह कौन मरने को तैयार है? यमदूत खड़े हैं, कह रहे हैं—किसी को तो लेकर जाएंगे।

पिता ने कहा कि मेरा मरना तो मुश्किल है, क्योंकि और भी बेटे हैं जिनका अभी काम करना बाकी है। मां ने कहा कि मैं मर जाऊंगी तो मेरे पति का क्या होगा? इस तरह एक-एक इंकार करते चले गए। पत्नी जोर-जोर से रो रही थी और कह रही थी कि मैं मर जाऊंगी, पर जब यह सवाल उठा तो उसने कहा—अब छोड़ो भी; वह तो मर ही गए, हमको छोड़ो—हम किसी प्रकार चला लेंगे। तो फकीर ने कहा—

बेटा, अब उठ। अब क्या सोच रहा है? वह व्यक्ति उठा और उसने कहा—अब वह तो मर ही गया और ये लोग किसी प्रकार चला ही लेंगे। मैं तो चला आपके पीछे।

महावीर ने कहा है—'सुविदिय जगस्सभावो, निस्संगो निब्भओ निरासो य'—जो संसार के स्वभाव से परिचित हैं, वे जानते हैं कि वे अकेले हैं, निस्संग हैं। चूंकि अकेले होने में भय लगता है अतः संग-साथ बना लिया है। आए अकेले, जाएंगे अकेले। कुछ देर के लिए संग-साथ बना लिया। एक दिन—एक स्त्री अपरिचित, पुरुष अपरिचित—परिचय हो गया, फेरे डाल दिए। साथ रहने लग गए। अनजान आत्मा घर में गर्भ से पैदा हो गई तो परिचित हो गई। बच्चे ने माता-पिता का माध्यम चुना। यह तो संयोग है—साथ रहने का। बच्चा भी एक स्वतंत्र इकाई है; मां-बाप से भिन्न, उसका अपना भविष्य है।

जिस व्यक्ति ने भी जीवन को ध्यान से देखा, वह पाएगा कि हम निस्संग हैं, अकेले हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी रिश्ते-नाते बेकार हैं। यह तो एक खेल है, लीला है, संयोग मात्र है। यह खेल इस तरह खेला जाए, यह गीत इस तरह गुनगुनाया जाए कि सभी सुख से रहें। थोड़ी देर राह पर साथ हो लिए हैं। प्रेम रहे पर यह मोह न बन जाए, आसक्ति न बन जाए, साक्षी भाव सधा रहे। यह भाव न हो कि यह सब सदा रहने वाला है—निस्संग।

**जग है सपना**

कठोपनिषद् में एक श्लोक है—'स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभी येनानुपश्यति। महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥' यम नचिकेता से कह रहे हैं कि जो स्वप्न के दृश्यों को और जागृत अवस्था के दृश्यों को—जिन्हें वह बार-बार देखता है, उन सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापी, सबके आत्मा को—जानकर बुद्धिमान शोक नहीं करता।

जब रात को स्वप्न देखते हैं तो स्वप्न बिल्कुल सत्य मालूम पड़ता है। स्वप्न में यह जानना कि यह असत्य है, बिल्कुल असंभव है। सभी स्वप्न स्वप्न के भीतर सत्य होते हैं, परंतु जब जगते हैं तब असत्य हो जाते हैं। परंतु जब सोते हैं और स्वप्न में जाते हैं तो जो जागरण में देखा था, वह सब झूठा हो जाता है। जगने के बाद स्वप्न तो थोड़ा-बहुत याद रहता है, परंतु स्वप्न में जागा हुआ अनुभव बिल्कुल याद नहीं रहता, स्वप्न में जागरण असत्य हो जाता है। जागरण में स्वप्न असत्य हो जाता है।

एक प्रसिद्ध घटना है कि च्वांग्त्से ने एक रात सपना देखा और सुबह उठकर उदास बैठ गया। उसके शिष्यों ने पूछा—'आप उदास! क्या हुआ?' उसने कहा कि रात मैंने एक सपना देखा कि मैं तितली हो गया हूं। शिष्यों ने कहा, स्वप्न में जो देखा उससे उदास होने की क्या जरूरत है, अब तो जाग गए हैं? उसने कहा—नहीं, बड़ी उलझन है। यह समझ में नहीं आ रहा है कि रात मैं स्वप्न में तितली हो गया तो यह भी हो सकता है कि तितली सो गई हो और अब वह स्वप्न देख रही हो कि वह च्वांग्त्से हो गई। यदि च्वांग्त्से सपना देख सकता है कि वह तितली हो गया तो तितली यह सपना क्यों नहीं देख सकती कि वह च्वांग्त्से हो गई? जागा हुआ च्वांग्त्से या सोई हुई तितली।

बात यह है कि स्वप्न असत्य कर देते हैं जागरण को और जागरण असत्य कर देता है स्वप्न को। पर सत्य क्या है? सत्य दोनों ही नहीं हैं। सत्य तो एक है—वही, जो दोनों को देखने वाला है—स्वप्न के अनुभव भी देखने वाला और जागृति के अनुभव भी देखने वाला। इसीलिए यम नचिकेता से कहता है कि उस सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापी सत्य आत्मा को जानकर बुद्धिमान मनुष्य शोक नहीं करता है। जो देखने वाले को पकड़ लेता है, जो भीतर है—उसे कोई दुख नहीं पकड़ता, क्योंकि दुख तो पकड़ता है बाहर की चीजें देखने के कारण। बाहर की चीजें अनित्य हैं, क्षणभंगुर हैं। संसार को माया इस अर्थ में कहा है कि जैसा दिखाई पड़ता है—वैसा है नहीं। हर समय बदलता है, नष्ट होता है। दृश्य के पीछे अदृश्य दिखाई दे, तभी बात स्पष्ट होती है। स्वप्न भी स्वप्न और जागरण भी स्वप्न। यह भी मिट जाता है और वह भी—दोनों समान।

**जानते सब हैं**

यह बात नहीं है कि लोग जानते नहीं हैं कि क्या सही है और क्या गलत है। सब जानते हैं। महावीर ने भी यही कहा है—जीव जरा, जन्म और मरण के होने वाले दुख को जानता है, उसका विचार भी करता है—'जाणिज्जई चिन्तिज्जई जन्मजरामरणस्संभवं दुक्खं।' परंतु समस्या यह है कि वह विषयों से विरक्त नहीं हो पाता है—'न य विसएसु विरज्जई' लोग जानते हैं, कहां-कहां दुख है, फिर भी जागते नहीं, क्योंकि वासना प्रबल है। प्रश्न है वासना का प्रभाव कम कैसे होता जाए? श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है—शरीर से परे इंद्रियां हैं, इंद्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे आत्मा-परमात्मा है। वे कहते हैं कि हे महाबाहो! (अपनी शक्ति को स्मरण कर) बुद्धि के परे आत्मा को जानकर, बुद्धि के द्वारा मन को वश में करके कामरूप शत्रु को मार। संसार में कोई चीज असंभव नहीं है। जरूरत है, संकल्पशक्ति की। जानकारी तो सभी को है। ❖

*भावों की सुस्पष्ट एवं समुचित अभिव्यक्ति, काव्यगुणों की निष्पत्ति एवं रसात्मकता की अभिवृद्धि में अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्थान एवं विषय की प्रासंगिकता के साथ विविध प्रकार के शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों के प्रयोग के कारण 'ऋषभायण' सहृदय सुधी जनों के हृदयों को झंकृत करने वाला है। इसके एक-एक पद्य में अनेक शब्द और अर्थ-अलंकारों की उद्भावना की जा सकती है। एक ही पद्य में एक अपेक्षा से एक अलंकार को मुख्य अथवा गौण भी बताया जा सकता है।*

# ऋषभायण में विरोधाभास अलंकार

❑ साध्वी श्रुतयशा ❑

आदिनाथ भगवान ऋषभ का जीवन भारतीय संस्कृति का आदि सर्ग माना जा सकता है। उनका जन्म एक नई सभ्यता एवं संस्कृति का सृजन कहलाया। उनकी राज्य व्यवस्था विकास की एक नई अवधारणा मानी गई, जिसमें पदार्थों की अल्पता में चैतन्य के विकास की प्रचुरता के दर्शन होते हैं। उन्होंने असि, मसि, कृषि का प्रवर्तन किया; विद्या, शिल्प-कला और व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया और धर्मचक्र का प्रवर्तन कर चेतना की उत्क्रांति का मार्ग भी प्रशस्त किया। भगवान ऋषभ को पुरुषार्थ चतुष्टय की अपेक्षा से पूर्ण पुरुष का आदर्श माना जा सकता है। अनेक लेखकों, कवियों एवं साहित्यकारों ने उन्हें अपने लेखनी का विषय बनाया, तथापि कविवर आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का स्थान महाकाव्य ऋषभायण के कारण उन सबमें अद्वितीय है।

ऋषभायण महाकवि महाप्रज्ञजी द्वारा प्रणीत एक ऐसा महाकाव्य है जो न केवल विद्वद्भोग्य है और न जनयोग्य। कथावस्तु की सरलता के कारण यह महाकाव्य व्याख्यान की शैली में प्रतिष्ठित हो सकता है और रसात्मकता इसे काव्य की शैली में प्रतिष्ठित करती है। इसमें लक्षणा और व्यंजना का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। प्रस्तुत महाकाव्य तर्क एवं नैतिकता के शुष्क घेरे में आबद्ध नहीं है, अपितु भाषा के सार्थक एवं सटीक प्रयोग, मृदुल-मंजुल पदावली और प्रसाद गुण का प्राचुर्य इसे कामायनी की समकक्षता प्रदान करता है। रस, अलंकार एवं काव्यगुणों का अनुपम सामंजस्य 'ऋषभायण' में सर्वत्र देखा जा सकता है।

भावों की सुस्पष्ट एवं समुचित अभिव्यक्ति, काव्यगुणों की निष्पत्ति एवं रसात्मकता की अभिवृद्धि में अलंकारों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। स्थान एवं विषय की प्रासंगिकता के साथ विविध प्रकार के शब्दालंकारों एवं अर्थालंकारों के प्रयोग के कारण 'ऋषभायण' सहृदय सुधी जनों के हृदयों को झंकृत करने वाला है। इसके एक-एक पद्य में अनेक शब्द और अर्थ-अलंकारों की उद्भावना की जा सकती है। एक ही पद्य में एक अपेक्षा से एक अलंकार को मुख्य अथवा गौण भी बताया जा सकता है।

ऋषभायण में अनुप्रास, यमक, श्लेष आदि शब्दालंकारों तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, दृष्टांत, उदाहरण, अन्योक्ति, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, संदेह और विरोधाभास आदि अनेक अर्थालंकारों का प्रचुरता से प्रयोग हुआ है। एक आलेख में उनकी समग्रतया विवेचना संभव नहीं। अतः इस आलेख में मात्र विरोधाभास अलंकार को ही विषय बनाया गया है।

विरोधाभास अलंकार वहां होता है जहां वाक्य या वाक्यांश में एक दृष्टि से देखने में विरोध जैसा प्रतीत हो, पर अन्वय अथवा अन्वयार्थ में विरोध न हो। संप्रति इसी के ही कुछ रूपों का निरूपण यहां अभीष्ट है।

समाज और राज्य की आदि-संरचना के रूप में कुलकर व्यवस्था का उदय होता है। कुलकर विमलवाहन और युगल जनता में परस्पर विचार-विमर्श होता है तब नियम और नियंता की आवश्यकता को स्वीकार करते हुए कहा गया है—

**नियम शृंखला सुशृंखलित जो/वास्तव में है वही स्वतंत्र।**
**अहंकार में पलने वाला/है स्वतंत्र भी तो परतंत्र।।**

(पृ. 19)

यहां अहंकार पर करारी चोट करते हुए कवि ने सुशृंखलित को स्वतंत्र और स्वतंत्र को परतंत्र कहकर हृदयग्राही विरोधाभास उत्पन्न किया है।

हाकार और माकार नीति के अतिक्रमण तथा दंडनीति के विकास की अनिवार्यता ने कुलकर प्रसेनजित को धिक्कार नीति के प्रवर्तन के लिए प्रेरित किया। यह नीति निरंकुश पर अंकुश के समान नियंत्रण का प्रतीक थी। इसका चित्रण करते हुए महाकवि महाप्रज्ञजी कहते हैं—

**नीरव का रव से परिचय ज्यों/प्राण शून्य में संचारित।**
**मौन मृदंग मुखर सिकता-कण/दंडविद्या से संस्कारित॥**

(पृ. 27)

नीरव का शब्द से परिचय, शून्य में प्राणों का संचरण, मृदंगों का मौन होना और सिकता-कणों का मुखर होना परस्पर विरोधी हैं।

जब ऋषभ दीक्षा के लिए प्रस्थान करते हैं, तब उनके अभिनिष्क्रमण का चित्रण करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—

**नगर से प्रस्थान नव/सृष्टि का अभियान है।**
**पथ का जैसे अपथ में/हो रहा प्रस्थान है॥**

(पृ. 100)

सृष्टि की संरचना और उसका विकास नगर में प्रवेश कर किया जाए—यह तो संभव है, पर निष्क्रमण से नवीन सृजन का कथन करना वस्तुतः विरोधी प्रतीत होता है। जो लोग संन्यास को पलायन मानते हैं उनके लिए ऋषभायण का प्रस्तुत पद्य एक नव्य संदेश है।

वसंतोत्सव के प्रसंग में महाकवि कहते हैं—

**वन में मानव मेला है/नभ में सूर्य अकेला है।** (पृ. 77)

मेला उद्यान में लगता है, अतः मुख्यार्थ बाधित होने के कारण यहां विरोधाभास अलंकार है। वन अव्यवस्था का प्रतीक है। यहां वन में मानव मेला कहकर भीड़तंत्र की अव्यवस्था को सूचित किया गया है।

मुनि ऋषभ भिक्षा के लिए हस्तिनापुर के गली-कूचों में चंक्रमण करते हैं। राजकुमार श्रेयांस जैसे ही उन्हें देखता है, बस देखता ही रह जाता है। अनिमेष प्रेक्षा, ऊह, अपोह आदि करते-करते उसे पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। उसका चित्रण करते हुए कहा गया है—

**तर्क और वितर्क कर/मन से परे वह हो गया।**
**अचल निर्मल चेतना के/गहन पथ में खो गया॥**

(पृ. 129)

अटवी का मार्ग विषम होता है, अनजान आदमी खो जाता है। पर चेतना की अचल, निर्मल अवस्था स्वयं समाधायक है, उसमें कोई कैसे खो सकता है? यहां मुख्यार्थ में बाधा है। समाधान यह है कि जो चेतना मन से परे अवचेतन और अचेतन मन की स्थिति में पहुंच जाती है, वह इहलौकिक विषयों की दृष्टि से खो जाती है।

दिग्विजय का महिमामंडित आयोजन, दूर-दूर से आए हुए राजाओं और सम्मान्य श्रेष्ठिजनों का सम्मिलन, पर भरत का एक भी भाई नहीं आया—जैसे ही यह प्रश्न मुखर हुआ, सारी सभा में सन्नाटा छा गया—

**भाषक जन भी हुए अभाषक/नीरवता है दंड प्रचंड।**

भाषक का अर्थ है बोलने वाला। एक व्यक्ति युगपत् भाषक और अभाषक कैसे हो सकता है, अतः यहां विरोध है। तात्पर्यार्थ यह है कि उपर्युक्त प्रश्न से उपजे विस्मय और विषाद के आकस्मिक विचार ने उन्हें अवाक् बना दिया।

भरत और बाहुबली ने सह-चिंतन के द्वारा युद्ध को अहिंसक युद्ध में परिणत किया। उस अभिनव युद्ध में दृष्टि, मुष्टि, सिंहनाद, बाहु और यष्टि—ये पांच विकल्प रखे गए। दृष्टियुद्ध में दोनों ने त्राटक की साधना की। उसका चित्रण करते हुए महाकवि कहते हैं—

**त्राटक की अद्भुत महिमा/गृहवासी बनता अनिकेता।**

(पृ. 277)

गृहवासी और अनिकेत शब्द परस्पर विरुद्ध हैं। त्राटक करते-करते व्यक्ति इतना एकाग्र हो जाता है कि उसे स्वयं अपना और अपने शरीर का भी ध्यान नहीं रहता, फिर घर का भान क्या रहेगा? वह वेश से गृहवासी और मन से अनिकेत (गृहवासना से मुक्त) हो जाता है।

मुष्टियुद्ध का आह्वान करते हुए बाहुबली कहता है—

**वज्रादपि यह अति कठोर है/कोमल जैसे अमल सरोज।**

एक ही मुट्ठी को वज्र से भी कठोर और कमल से भी कोमल कहना अत्यंत विरोधी है। विरोध का परिहार इस प्रकार किया जा सकता है—राजघराने में पले होने के कारण अवयव-संरचना की दृष्टि से उनकी मुट्ठी कोमल थी, पर प्रहारात्मक मुद्रा में होने के कारण वह अत्यंत कठोर भी थी।

शब्द की शक्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है—

**सुमनस जैसा मन भावन है/महारण्य पथ जैसा भीम।**

(280)

शब्द की मनोहरता और भयंकरता विरोधी हैं, तथापि प्रतीतिगम्य हैं। इन्हीं वचनों का प्रभाव था कि भरत ने अपने अनुज पर भयंकर यष्टि प्रहार किया। उसका चित्रण करते हुए महाकवि महाप्रज्ञ कहते हैं—**अग्रज ने अनुज को पीड़ा का उपहार दिया।** कोई अपने ज्ञातिजन को पीड़ा-मुक्त करे, वस्त्र-आभूषण आदि प्रदान करे, उसे उपहार कहा जा सकता है, पर पीड़ा उपहार कैसे? मुख्यार्थ में बाधा होने से यहां विरोध है। पर यह यष्टि अंततः बाहुबली की आत्यंतिक दुख-मुक्ति का पावन सोपान बना, अतः उपहार था। चक्रवर्ती की प्रहारक यष्टि से बाहुबली को ऐसा लगा मानो आकाश और पृथ्वी एकाकार हो गए। उस स्थिति का चित्रण करते हुए कहा गया है—

**हुआ धरणि अंबर एकीकृत**
**दृश्य जगत् भी बना अदृश्य।** (पृ. 281)

दृश्य जगत का अदृश्य होना विरोध की उद्भावना करता है। यहां इसका तात्पर्य है—प्रबल प्रहार की पीड़ा से बाहुबली की आंखों के आगे अंधेरा छा गया, फलतः सामने का दृश्य ओझल हो गया।

क्रोध एवं आग्रह के दुष्परिणामों का निरूपण करते हुए महाकवि महाप्रज्ञजी कहते हैं—

**क्रोध और आग्रह से बनता,**
**नेत्रयुक्त मानव भी अंध।** (पृ. 281)

नेत्रयुक्त मानव को अंधा कहना विरोध का उद्भावक है। यहां नेत्रयुक्त का अर्थ है—चर्म-चक्षुओं की दृष्टि से चक्षुष्मान। अंध का तात्पर्य है विवेकचक्षु से रहित। कहा भी है 'एकं हि चक्षुरमल सहजो विवेकः'। आवेश की अवस्था में व्यक्ति हित और अहित को देख नहीं पाता, अतः अंधा होता है।

सम्राट भरत के चक्र-प्रक्षेप से बाहुबली रोषारूण हो गया। ज्योंहि वह मुट्ठी तान अग्रज की ओर दौड़ा, देवताओं ने उसकी राह रोक दी। उपशम का उपदेश कार्यकारी हुआ। भ्रातृयुद्ध से विरत हो बाहुबली कर्मयुद्ध में संलग्न हो गया। अनुज को शांत और अविचलमना उपशम की साधना करते देख भरत ने भी क्षमा की शरण ली। इसी का निरूपण करते हुए महाकवि महाप्रज्ञजी कहते हैं—

**हो गया श्रुत अनसुना-सा/ध्यान अविचल, अचल मन है।**
**मौन का संवाद मधुतम/हो गया तन भी अतन है॥**
(291)

इन पंक्तियों में विरोधाभास अलंकार की छटा दर्शनीय है। श्रुत का अर्थ है सुना हुआ। श्रुत और अनसुना परस्पर विरोधी हैं। मन मन्यमान अवस्था में होता है, अतः मन को अचल कहना भी विरोधी है। संवाद वाणी से होता है। मौन का संवाद कैसा? फिर तन को अतन कहना भी विरुद्ध है। वस्तुतः बाहुबली की स्थिति उस समय वैसी ही थी। भरत के शब्द श्रवणेंद्रिय से अवगृहीत होने के कारण श्रुत तो थे, पर विमर्श के अभाव में वे अश्रुत जैसे ही थे। उनका मन क्षमा के सुदृढ़ अवलंबन को पाकर अमन निर्विकल्प, अतः अचल हो गया था। क्योंकि मन स्वयं चंचल नहीं होता, भाव ही उसे चंचल बनाते हैं। उनकी प्रशांत आकृति, मुखमुद्रा शांति का अवाक् संदेश हो गए। देह में रहते हुए भी देहाध्यास से मुक्त होने के कारण वे विदेह थे। बाहुबली की इस अवस्था को देख चक्रवर्ती लौट गया।

**लौट आया चक्रवर्ती/युद्धस्थल अब शांतिस्थल है।**
(291)

जहां कुछ समय पहले भाई-भाई का युद्ध हो रहा था, वहां अब मुनि बाहुबली की साधनाभूमि होने के कारण शांति-स्थल हो गया। जब तक चेतना पर अभिमान, आवेश आदि निषेधात्मक भाव हावी रहते हैं, वह युद्धस्थल बना रहता है। संवेगों की उपशांति ही मुख्यार्थ में शांति है। बंधन और मुक्ति, युद्ध और शांति परिस्थिति-आयत्त नहीं, मनःस्थिति सापेक्ष हैं।

ऋषभायण में विरोधाभास अलंकार के कुछ अन्य रूप भी देखे जा सकते हैं—

**(1) उदात्त अलंकारगर्भित विरोधाभास**

दशम सर्ग में (7 पद्यों में) काकिणी रत्न की महनीयता का वर्णन किया गया है, अतः वहां मुख्यतः उदात्त अलंकार है। वह तेजोवलय को धारण करने वाला अनूठा सूर्य है। उसकी तेजस्विता का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

**बिना सूर्य के रजनी विरहित/प्रतिपल दिन की बेला।**
(पृ. 170)

सूर्य के अभाव में दिन कैसा? रात का अभाव और प्रभास्वर प्रभामंडल के कारण काकिणी रत्न की उपस्थिति को दिन की बेला कहा गया है।

**(2) उत्प्रेक्षागर्भित विरोधाभास**

ऋषभ का समवसरण, उसका दिव्य ठाठ-बाट। देखते-देखते माता मरुदेवी ने श्रेणी आरोहण किया और हाथी पर बैठे-बैठे ही सिद्धलोक चली गईं। आदिनाथ ने

शेष पृष्ठ 42 पर

कहानी

*लाइट की ओर मां की पीठ थी। वह 'अठारह नाते' वाला पाठ राग में गा रही थी। स्त्री-पुरुष संबंधों की ही क्यों, मानवीय संबंधों की एब्सडिटी का कथा-काव्य था वह। संसार की—संबंधों की असारता को उभारता चटपटा उदाहरण। मां का चेहरा वह गौर से देख रहा था। उसे पढ़ते हुए, संसार की या संबंधों की असारता के बारे में मां भीतर कहीं आश्वस्त हैं—ऐसा उसे नहीं लगा। फिर भी असारता की इस स्थिति की याद अपने को दिलाने की कमजोर-सी कोशिश जरूर वहां थी।*

कहानी

# गांठें

❑ ज्योत्स्ना मिलन ❑

उसने अचानक या आवेश में आकर निर्णय नहीं लिया था। इस निर्णय की शुरुआत लगभग दो साल पहले कभी हो चुकी थी। वह धीरे-धीरे पकता रहा था उसके भीतर और अब एकदम पुख्ता था। वह जरा भी हड़बड़ी में नहीं था, क्योंकि निर्णय पूरी तरह लिया जा चुका था।

अपना कमरा तो उसके पास कहां से आता। एक कोठरी थी जिसे उसने घर के खुले बरामदे में अपने ही हाथ से पटिए-टीन-टप्पर ठोक-ठाक कर खड़ा कर लिया था। होने को वह गैरकानूनी ही थी पर कानूनन तो उसे कभी कोठरी क्या, एक दड़बा भी मिलना मुश्किल था। थी तो कुठरिया ही, पर वह उसकी अकेले की थी, इसलिए अपना सारा ताम-झाम वह उसी में फैलाए रहता। मैले कपड़े, धुले कपड़े, किताबें, चाय का प्याला, पानी का गिलास कई-कई तरह की चीजों से अक्सर ही पटी रहती वह कोठरी। कभी-कभी जब वह हर चीज को अपनी सही जगह पर रखने की कोशिश करता, उन्हें झाड़-पोंछकर अपने असली रंग-रूप में लाता तो कुठरिया कुछ-कुछ कमरे की शक्ल अख्तियार कर लेती।

इस समय भी कोठरी का हुलिया एकदम कमरे जैसा था और वह अपनी छोटी-सी मेज के सामने लगी कुरसी पर बैठा था। लैंप कुछ इस तरह रखा था कि सारी किताबें रोशनी से तरबतर थीं। किताबें कीमती थीं और वह उन्हें खरीद नहीं सकता था। अपने लिए फालतू हो चुकी किताबों को उसे देते-देते भी, जिससे जो, कुछ बना, उससे वसूल लिया था; 'आया सो पाया' के अंदाज में। किसी ने उससे साल-भर नोट्स लिखवाए, किसी ने अपने छोटे भाई को स्कूल पहुंचाने-लाने का काम सौंप दिया तो किसी ने अपने घर का साल-भर का सामान ढुलवा लिया। उन चमकदार किताबों में अब उसके लिए कुछ भी नहीं था, सिवा घटाटोप अंधेरे के। कोई भी रास्ता उस अंधेरे के पार जाता उसे नहीं दिखाई देता था।

टेबल के ऐन बीचोबीच भरा हुआ गिलास रखा था। उसकी सतह चौंकी हो इस तरह हौले-से कांपी थी। वह तय नहीं कर पाया कि वह हवा थी या मेज, जो उसके पैर से हिली थी। वह ध्यान से देख रहा था—गिलास के उस पार किताबें थीं झिलमिलाती हुईं। उसे एक क्षण को लगा कि वे सचमुच की किताबें नहीं हैं, उसका खूबसूरत-सा भ्रम है। वह कुरसी खिसकाकर एकदम-से उठ खड़ा हुआ और उनमें से तीन-चार किताबों को वहां से निकाल लिया। उन्हें लेकर वह बरामदे में निकल आया। चारों को उसने मुंडेर पर रख दिया एक के ऊपर एक। बारी-बारी से उसका हाथ उन्हें सहलाता रहा, उनके सारे ओनो-कोनों को छूता रहा। कई पृष्ठों को उसने उलटा-पुलटा। कई जगह निशान लगे थे—कई जगहों पर गोदा हुआ था, कीड़े-मकोड़े जैसे अक्षरों में। इनको पढ़ते हुए कई बार उन्हीं पर सिर टिकाकर सो जाता था वह।

वीनू भैया के सिरहाने खड़ा था और कुल जमा चार साल का था वह उन दिनों। वीनू भैया को सांस लेने के लिए छटपटाते हुए वह टुकुर-टुकुर देख रहा था। उन्हें देखकर अजीब-सा डर समा गया था उसमें। वह उनके पास बैठ गया था और अपना छोटा-सा डरपोक हाथ बढ़ाकर धीरे-धीरे उनके सीने को सहलाता रहा था, कुछ इस उम्मीद से कि शायद इससे कुछ सुभीता हो सांस लेने में। वीनू भैया

उसके हाथ को अपने हाथ से दबाते और फिर चूम लेते। डॉक्टर उन्हें देखने आते तो वह एक कोने में खिसक जाता। डॉक्टर हाल पूछते और नाड़ी देखते हुए चुपचाप सुनते। तकरीब्रन वे ही हाल होते और तकरीबन वे ही दवाइयां। दिन के बाद गुजरता दिन और सांसों के लिए होती वही छटपटाहट। डॉक्टर परची लिख रहे होते और मां फफकते हुए हाथ जोड़कर कहती, 'आप मेरे बेटे को बचा लीजिए डॉक्टर...आप तो भगवान हैं...'। डॉक्टर साहब उठ खड़े होते अपना ठस्स चेहरा लिए। मां की गिड़गिड़ाहट उनके पीछे-पीछे घिसटती। कभी-कभी वे बुदबुदाते, 'घबड़ाइए मत, इलाज करना हमारा काम है'। सूखे पत्तों-से खड़खड़ाते शब्दों से मां का मन और डर जाता, 'नहीं...ऐसा मत कहिए डॉक्टर साहब, आप चाहें तो'...डॉक्टर जा चुके होते। इस बीच वह आकर मां के पीछे खड़ा हो जाता। उनका पल्ला पकड़े, वह अपने भीतर जूझता इस प्रश्न से कि 'मां जिसे भगवान समझती है, वह भगवान क्यों नहीं हैं?' डॉक्टर को थोड़ा-न-थोड़ा तो भगवान होना ही चाहिए! तभी मां से सटते हुए उसने पहली बार अपने मन में गांठ बांधी थी।

उसने अपने मन को टटोला, छोटी-बड़ी कितनी-सारी गांठें थीं वहां निश्चय की।

उन दिनों वह मैट्रिक में पढ़ता था और अक्सर दादाजी को लेकर डॉक्टर के यहां उसे ही जाना पड़ता था। आस-पास के गांवों से भी लोग मरीज को तांगे में, बैलगाड़ी में लेकर आते। उस शहर की काली-चौड़ी सड़कों पर फर्राटे से दौड़ती-धड़धड़ाती कारों-बसों के बीच इतमीनान से ठुनक-ठुनककर चलती बैलगाड़ी अजूबे-सी लगती। डॉक्टर के दरवाजे पहुंच जाने पर मरीज की आंखों में ईश्वर की शरण में पहुंच जाने की-सी तसल्ली आ जाती। वह बुढ़िया उसे याद है। बेटे ने जैसे ही गोद से नीचे उतारा तो उस अहाते में कदम रखते हुए बोली थी, 'बस बेटा, अब मैं बिल्कुल ठीक हो जाऊंगी, बिल्कुल ठीक जगह पर ले आया तू मुझे।' जैसे वह अहाता मृत्युलोक से बाहर हो और वहां पहुंच जाना ही बच जाना हो। जब उसकी बारी आई तो वह कुछ इस भाव से गई कि बस, अब तो डर की कोई बात ही नहीं, 'पाय लागी डॉक्टर साब! सब-कुछ आप ही के हाथ है।' 'लेट जाइए', एक ठंडा आदेश। 'हां साब।' 'क्या तकलीफ है?' 'अब क्या बताऊं, जिनगी में कभी सिर भी नहीं दुखा और अब जाने क्या हो गया है कि जोड़-जोड़ दुखता है। मालूम पड़ता है जैसे शरीर दर्द से ही फट जाएगा...' हाल सुनाते-सुनाते बुढ़िया की नजर डॉक्टर के चेहरे पर चली गई और वह एकदम से चुप हो गई। ओंठ खुले ही रह गए। अजीब-सा डर उसके बदन में फैल गया। डॉक्टर ने खीझकर पूछा था 'लेकिन क्यों होता है, कभी ध्यान दिया आपने कि कोई चीज खाने से कम या ज्यादा होता है?' 'यह तो पता नहीं चला—कभी ध्यान भी नहीं दिया।' 'ठीक है, और क्या तकलीफ है?' 'शरीर जगह-जगह से फट जाएगा दर्द से, यह क्या कम बड़ी तकलीफ है!' बुढ़िया चकित देखती रही थी—'बस यही है जो-कुछ है और हम तो इसी दर्द से बिलबिला जाते हैं।' कहते हुए उसके भीतर की सारी उम्मीद उसकी आंखों में छटपटाने लगी थी।

डॉक्टर जिस तरह और जितनी हड़बड़ी में मरीजों को देखते थे इससे उसका निश्चित विश्वास बन गया था कि डॉक्टर आधा-दूधा ही सुनते और देखते हैं। जितनी तकलीफें मरीज गिनाता उतनी ही बार वे पर्चे पर किसी दवाई का नाम लिख देते। वे शायद ही कभी जान पाते कि मरीज को बीमारी क्या है? अंधेरे में तीर मारने की तरह कई सारी दवाइयां लिख देते। उनमें से कोई यदि लग गई तो तीर, नहीं तो तुक्का—के भाव से।

वह रास्ते में हर बार दादाजी को तैयार करता कि 'आप डॉक्टर को ठीक-से सारी बातें बताना।' 'हां', वे सिर हिलाते और एक रिहर्सल करते 'एक तो जे कि नींद नहीं आती, दूसरा जे कि कुछ खावे की इच्छा ही नहीं होती और जे भी उठने पर बड़ी जोर का चक्कर आ जाता है।' 'हां दादाजी, बस इसी तरह।' दादाजी मन-ही-मन कई बार सारी बातों को दोहराते। पर डॉक्टर के पास जाते ही जैसे वे सब-कुछ भूल जाते। इतना ही निकलता, 'बस वैसा ही है।' डॉक्टर चुपचाप परची पर झुक जाते हैं। वह गुस्से को दबाकर आजिजी के स्वर में कहता है, 'डॉक्टर साहब! आप जरा अच्छी तरह देख लीजिए, दादाजी को बहुत तकलीफ रहती है।' डॉक्टर तुनककर उसे देखते और पाते कि सामने एक बच्चा है—तो जाने दे के भाव से फिर परची पर कलम दौड़ाने लगते और बड़बड़ाते रहते, 'अच्छी तरह और कैसे देखते हैं? ढेरों मरीज आते हैं रोज, कैसे-कैसे रोग होते हैं—लाइलाज रोग। बिना देखे ही इलाज हो जाता है? तकलीफ तो बीमारी में सभी को होती है, आपको अकेले को ही तो नहीं होती...।'

दादाजी की तकलीफ टस-से-मस न होती और कभी हिलती तो कुछ और बढ़ जाती। 'तकलीफ बढ़ गई' कहने पर दवाई बदल जाती। परची पकड़ते हुए उसे हर बार लगता डॉक्टर को भी पता है कि इस दवाई से कोई लाभ नहीं होना है फिर भी वे लिखते और वह खरीद लाता था।

पता नहीं, दादाजी भी शायद लेते हुए जानते रहे हों कि कोई लाभ नहीं होना है। दवाई को निगलते हुए उनकी आंखों में उसे कोई उम्मीद नजर नहीं आती थी, तभी उसने मन में बड़ी और मजबूत गांठ बांधी थी।

पर इस समय तो उसे लग रहा था जैसे उसने वे सारी गांठें मन में न बांधकर सुतली में बांधी थीं और जैसे वे महज खाली बैठे का खेल रहा हो।

उसे अच्छी तरह याद है—यही डॉक्टर तो थे जब इन्कमटैक्स वाले गुप्ताजी अपनी बीवी को लेकर आए थे। इस तरह के मरीजों से वे दूसरे कमरे में मिलते थे और उस कमरे में उनका चेहरा भी दूसरा होता और आवाज भी। 'कहिए साहब, क्या सेवा करूं!' 'बस, कुछ विशेष नहीं, ये जरा मिसेस गुप्ता को देख लीजिए।' 'अरे मिसेस गुप्ता, क्या हुआ आपको? सरदी या कुछ और?'...जैसे सरदी बड़ा-भारी रोग हो। 'सरदी तो है ही डॉक्टर साहब, पर पेट में भी बड़ी बेचैनी रहती है, कभी-कभी तेज दर्द होता है थोड़ी देर के लिए।' 'तब तो वाकई आपको दोहरी तकलीफ है, लेकिन घबराने की कोई बात नहीं है, जल्दी ही आराम हो जाएगा।' गुस्सा तो इतना आया था उसे कि कमरे में घुस के गरदन से पकड़कर कहे, 'अब बोल कि बीमारी में तकलीफ तो सभी को होती है, आपको अकेले को ही तो नहीं होती...' पर उस दिन वह बिना कोई दवाई लिखवाए ही लौट आया था। लौट आया तो लौट आया, डॉक्टर के बाप का क्या गया। हर चौथी विजिट पर चालीस तो मिलने ही हैं उसे। अव्वल तो उसे पता ही नहीं चला होगा और चल भी जाता तो उसे अच्छी तरह मालूम है डॉक्टर मुंह बनाकर कहता, 'हुंह, कीड़े कहीं के, अपने को समझते क्या हैं?' वह कीड़े की तरह ही बिलबिला उठा था डॉक्टर की उस प्रतिक्रिया के खयाल से और अपने मन की उस गांठ को उसने फिर से मजबूत किया था। पर आज वह भी जैसे उसका मजाक उड़ा रही थी। उसके हाथों की पकड़ किताबों पर कड़ी होती गई थी। उसने ऊपर की किताब को उठाकर एकदम से खोला। वह दो हिस्सों में बंट गई। किताब को बीच से चीर दिया और पन्ने फाड़-फाड़कर उड़ा दिए। हवा में तैरते—गोते लगाते पन्ने जा-जाकर नीचे की अंधेरी जमीन पर बिछ गए थे और चौकोर सफेदी में चमक रहे थे। दो किताबें फाड़ देने के बाद ही उसे यह काम भी एकदम व्यर्थ-सा लगा।

वह अपनी कोठरी में लौट आया और फिर कुरसी में धंस गया। टेबल के बीचोबीच पड़े गिलास के पार झिलमिलाती किताबों के बीच एक अंधेरा खोखल बन गया था। उसे देखते हुए उसने गिलास को हाथ में थाम लिया। उसके और गिलास के बीच फासला इतना कम था कि एक प्रकार से वह आश्वस्त था।

यों उस घटना को घटे पर्याप्त समय हो गया था। तभी कुछ होता तो हो जाता। तब घर में सभी चौकन्ने थे पर अब लगभग सभी आश्वस्त थे। सिर्फ छोटी बहन रानू के मन में अब भी खटका बना हुआ था। वह अक्सर कोठरी में झांक लेती थी। उस दिन जब वह घटना घटी तब वह चुपचाप बैठा सिगरेट पीता रहा था देर तक, एक के बाद एक और रानू बिस्तर लगाना, पानी भरना, इधर-उधर बिखरे कपड़ों को तहाना जैसे काम करती रही थी। कोई साढ़े बारह बजे वह उसके पास जाकर खड़ी हो गई थी और कहा था, 'चल आशी, कुछ खा लें।' वह चुपचाप इंतजार करती रही थी। दुबारा कुछ कहने का साहस जैसे उसमें नहीं था। हाथ की सिगरेट बुझाकर वह उठ खड़ा हुआ। चौके में जाकर उसने रोज की आदत से दो आसन बिछाए और दो गिलास पानी रखा। खाने के समय अगर वे घर में होते तो आमतौर पर एक थाली में ही खाते। किसी घटना के बाद पूरे चार दिनों का गुजर जाना उसके प्रभाव को कम करने के लिए पर्याप्त होता है—ऐसी आम धारणा है, इसलिए कोई भी नहीं था आस-पास। होने को सभी घर में ही थे। पिताजी खाने के बाद पान-तंबाकू खाकर अखबार पलट रहे होंगे, मां अलमारी में रखे भगवान के सामने छोटा-सा प्रकाशवृत्त फैलाकर रात का पाठ कर रही होंगी, रोज की ही तरह। रानू गुनगुना रही है एक पंक्ति को बार-बार जैसे किसी का ध्यान कर रही हो 'प्रभु जाए बसे मथुरा नगरी, दरस दिखाने कब आओगे...कब आओगे...क...ब आओगे।' उसकी इच्छा हुई कि वह जाकर सभी के चेहरे गौर से देख ले एक बार और इसी के साथ वह उठ खड़ा हुआ।

लाइट की ओर मां की पीठ थी। वह 'अठारह नाते' वाला पाठ राग में गा रही थी। स्त्री-पुरुष संबंधों की ही क्यों, मानवीय संबंधों की एब्सडिटी का कथा-काव्य था वह। संसार की—संबंधों की असारता को उभारता चटपटा उदाहरण। मां का चेहरा वह गौर से देख रहा था। उसे पढ़ते हुए, संसार की या संबंधों की असारता के बारे में मां भीतर कहीं आश्वस्त हैं—ऐसा उसे नहीं लगा। फिर भी असारता की इस स्थिति की याद अपने को दिलाने की कमजोर-सी कोशिश जरूर वहां थी। कभी मां जरूर सुंदर रही होंगी। हम भाई-बहनों में से किसी को भी वह नहीं मिला, ऐसा क्यों हुआ होगा? वह कितनी तरह के काम करती हैं दिन-भर में? बीमार हों तब भी घिसटती रहती हैं। आखिर वह कौन-सी

चीज है जिसके बूते इतने वर्षों से जुती हैं वह इस चक्की में? चारों ओर चिलचिलाती धूप है, कहीं छाया नहीं फिर भी हर सवेरे चल पड़ने का उत्साह कहां से आता है उनमें? मां कितनी निश्चिंत हैं!

पिताजी का चेहरा देखने के लिए कमरे के भीतर जाना जरूरी था। वे खटिया पर दो तकियों के सहारे अधलेटे-से अपने दो पतले-लंबे हाथों के बीच अखबार फैलाए थे। मोटे चश्मे के बावजूद कुछ पढ़े बिना उन्हें नींद नहीं आती थी। सारे बाल करीब-करीब सफेद थे। वह सामने आया तो उन्होंने एक बार आंखें उठाकर उसे देखा, वह दवाइयों का डिब्बा हाथ में लिए कुछ खोजने का अभिनय करता रहा। पिताजी फिर अखबार में खोने लगे थे। एकाएक पूछा, 'क्या बात है, सिरदर्द हो रहा है?' 'अ...हां थोड़ा-सा।' 'तो फिर बाम ही लगा लो, फालतू दवाई क्यों खाते हो?' 'हां देखता हूं।' कहते हुए उसने दवाई का डिब्बा फिर ठिकाने-से रख दिया। अखबार की दुनिया भी खो जाने लायक बड़ी होती है कभी-कभी। वह बाबा का चेहरा देखता रहा, इतने वर्षों तक कोई कैसे जी सकता है? उसे यह बात अविश्वसनीय-सी लगी। उसके भीतर बड़ी तीव्रता से यह इच्छा जागी कि वह पिता से पूछे, 'बाबा, वह क्या चीज थी जिसके बूते तुम इतने वर्षों तक जी सके?' पर उसे लगा कि ऐसा प्रश्न पूछ पाना उसके लिए एक असंभव बात है। उसने फिर एक बार ध्यान से उनकी ओर देखा। वे उसे अपने में मगन एक घटादार पेड़ की तरह लगे।

उस घटादार वृक्ष की घनी-अंधेरी-ठंडी छाया से निकलकर वह रसोई की ओर बढ़ गया। रानू बिस्तर लगाने के लिए दरी बिछा रही थी और अब भी गुनगुना रही थी। उसे देखकर लगा जैसे किसी बड़े-भारी समुद्र में गोता लगाकर अरसे बाद बाहर आई हो और बिस्तर लगाने जैसा रोजमर्रा का काम भी उसे नियमित लग रहा हो—इस तरह जुटी है। सल निकालकर कितनी अच्छी चादर बिछाती है वह। उसके अंदर जाने से रानू की गुनगुनाहट कम हो गई। वह भी चुपचाप बिस्तर लगाने लगा। रानू ने वहीं दीवार के सहारे तकिया टिकाया और अपना बस्ता उठाकर बिस्तर पर पटक दिया। अब वह एकदम से दूसरी दुनिया में आ गई थी। 'अब क्या होम टास्क करोगी?' 'हूं।...वो तो करना ही पड़ेगा वरना डबलडैकर मैडम मुर्गा बना देंगी।' 'तू कभी बनी है?' 'उं हूं, कभी नहीं, इसीलिए तो और भी डर लगता है।' 'इसमें डरने की क्या बात है?' 'डर-वर तो ठीक, इज्जत भी तो जाएगी।' 'तू भी क्या रानू! ये इज्जत-विज्जत क्या होती है? फालतू की आंख-फुड़ाई' कहता हुआ वह कुछ बेचैनी महसूस करने लगा और फिर बरामदे की ओर मुड़ गया।

कोठरी का दरवाजा धीरे-धीरे हिल रहा था। कुछ इस तरह जैसे उसमें जान हो। हवा इतनी नामालूम-सी थी कि उसकी वजह से दरवाजे में हरकत है—यह मानना मुश्किल लगा था उसे। फिर भी यह हरकत उसे अच्छी लगी और उसने बढ़कर दरवाजे को धीरे-से थामा; वह उसकी अपनी दुनिया का दरवाजा था। कुरसी, जो टेबल के सामने थी उसे उसने दरवाजे की तरफ घुमा लिया और इतमीनान से बैठ गया। कोठरी के दरवाजे के बाहर बरामदा था और बरामदे में खुले दरवाजे के भीतर घर था, बाहर दुनिया। उसने टेबल पर से गिलास उठाकर ओठों से लगा लिया। बिना कुछ सोचे, एक सांस में पी गया। होंठों से हटाकर गिलास में झांका, तल में अब भी दो-चार बूंदें थीं, फिर एक बार मुंह खोलकर वे दो-चार बूंदें भी उसने गले में टपका लीं और गिलास को फिर वहीं रख दिया। एक बार फिर टेबल पर जमी किताबों को देखा। खाली गिलास के पास अब वे झिलमिला नहीं रही थीं, एकदम खामोश और डरी हुई थीं। उसने ऊपर-नीचे—चारों ओर कोठरी में नजर घुमाई—उसकी बनावट को देखकर कोई भी कह सकता है कि यह उसी ने हाथ से बनाई होगी।

वह बहुत छोटे-छोटे कदमों से चलकर कोठरी से बाहर आ गया। थकी-थकी-सी रोशनी चीजों पर लिपटी थी। ऊपर नारियल के पेड़ के विशाल पत्ते गोलाई में मुड़कर धीरे-धीरे हिल रहे थे। वह चाहे तो बरामदे में चटाई बिछाकर लेट सकता है और लेटे-लेटे नारियल के पत्तों के बीच से झांकते मटमैले आसमान को देखते हुए मर सकता है, वह चाहे तो अपने बिस्तर पर लेटे-लेटे मर सकता है, उसका मन हो तो कोठरी में कुरसी पर बैठे-बैठे मर सकता है, उसका जी चाहें तो समुद्र किनारे जाकर समुद्र की ओर लगातार बढ़ते जाकर भी मर सकता है, पर कहीं रास्ते में ही साइकिल से लुढ़क गया तो? इससे तो यह बरामदा ही अच्छा है।

फटने से बच गई दो किताबें अब भी रेलिंग पर थीं। उसने व्यंग्य से हंसते हुए किताबों को झटके-से उठा लिया 'यह तो मीता की है और यह राहुल की' वह बुदबुदाया और दोनों को उसने कोठरी की तरफ़ उछाल दिया। एक कुरसी पर और एक चटाई पर गिरी खुलकर। मीता ने किताब देते समय उससे कहा था, 'जानते हो, इस किताब की सार्थकता इसी में है कि तुम इसे पढ़ो...।' उसने चौंककर उसे देखा था लंबोतरे चेहरे पर दो बड़ी-बड़ी बातूनी आंखें उसकी ओर

देख रही थीं। कितना अजीब-सा विश्वास था वहां, जो उसके लिए था।

पिछली बार उसे कामयाबी नहीं मिली तो मीता उससे मिली थी और बोली थी, 'आशी, तुम इतने निराश क्यों हो? तुम जानते तो हो, इन इम्तहानों में नंबर कैसे पाए जाते हैं? ये क्या तुम्हारी योग्यता की कसौटी हैं?' 'तुम्हारी बात ही अगर मान लूं, सोच लूं—नहीं हैं, फिर क्यों पढ़ूं?' 'नहीं आशी, तुम्हें कोशिश तो करनी ही चाहिए।' 'क्या फायदा? मेरे पास न तो पैसा है न पहुंच, पढ़ाई से क्या दाखिला मिलेगा?' 'स्थिति कितनी भी खराब हो, पर ऐसी संभावना को एकदम से नकारा तो नहीं जा सकता न।' 'तुम...कहती हो तो एक बार और सही...' और वह मन-ही-मन बड़बड़ाया था—बनूंगा तो डॉक्टर ही, कुछ और नहीं। कैसे खेलते हैं ये लोग उस आदमी की जिंदगी से जो अपनी जिंदगी के लिए इनके सामने रोते-गिड़गिड़ाते हैं। इस खेल को रोकना ही मेरी पहली जरूरत है और अगर ये ही नहीं होता तो फिर जीने का अर्थ क्या है? और बिना अर्थ के जीना कितना कठिन है मीता, मैं तुम्हें कभी नहीं समझा पाऊंगा।

एकाएक उसे लगा जैसे कोई कह रहा है, यह तुमने क्या किया आशी, जिंदगी का अर्थ कहीं और भी तो हो सकता है? 'मीता' बरामदे के बुझे-से अंधेरे में वह लगभग चीखा। उसकी जबान लथड़ गई और यह एक छोटा-सा शब्द अजीब ढंग से ऐंठ गया। उसने अपने सीने पर हाथ फेरा, क्या मैं...मैं थोड़ी ही देर में मर जाऊंगा? सचमुच मर जाऊंगा? मीता को मैं अब कभी नहीं देख पाऊंगा? उससे तो अभी कुछ कहा ही नहीं है। क्या इस कोठरी को, मां को, बाबा को, रानू को, इस आसमान को, समुद्र को, इस दुनिया को अब मैं कभी भी न देख पाऊंगा? 'नहीं'...वह जोर से चीखा, 'बचाओ, बचाओ'...और पसीने से तरबतर कमरे में दौड़ गया। मां-बाबा-रानू सब भी दौड़ पड़े उसकी तरफ 'क्या बात है आशी?' 'मां-बाबा, मैंने ज़हर खा लिया है, पर मैं मरना नहीं चाहता, बचाओ, बचाओ'...'क्या?' कहती हुई मां उससे लिपट गई। पिता हताश-से बुदबुदाए, 'यह क्या आशी!' रानू चिल्ला गई, 'आशी! मुंह में उंगली डालकर उल्टी कर दे।' और उसे घसीटकर बाथरूम में ले गई। 'मुझे बचा ले, रानू, मुझे बचा ले, मैं मरना नहीं चाहता।' वह फिर चीखा। सामने के आईने में उसे दिखाई देती है मर जाने की अनिवार्यता से त्रस्त और जीने की इच्छा से छटपटाती हुई अपनी ही शक्ल। वह एकदम से डर जाता है अपना ही चेहरा देखकर। रानू उसके मुंह में उंगली डाल देती है। उल्टी के बाद भी बेचैनी दूर नहीं होती। 'रानू, तू डॉक्टर के चल' कहता हुआ वह साइकिल उठा लेता है, 'बाबा, मां, मैं अभी आता हूं...।'

वह धड़ाम से दरवाजा खोलकर डॉक्टर के घर में पहुंच जाता है, 'डॉक्टर, मुझे बचा लीजिए डॉक्टर, मैंने जहर खा लिया है।' 'हें, क्या?' डॉक्टर थाली खिसका देता है। 'हां डॉक्टर।' 'लेकिन क्यों?' 'यह सब बाद में, पहले आप मुझे बचा लीजिए।' डॉक्टर कभी इन्जेक्शन लगाते हैं, कभी नमक का पानी पिलाते हैं—उल्टियां...। वह बीच-बीच में लगातार बोलता चला जाता है, 'मैं डॉक्टर नहीं बन सकता तो कुछ नहीं...मैं कुछ भी बनकर जी लूंगा... दुकानदार, बुनकर, रंगरेज, मोची...कुछ भी...कुछ भी बनकर जी लूंगा मगर आप मुझे बचा लीजिए डॉक्टर...' पर चीजें धुंधली होती जाती हैं, दूर होती जाती हैं, आवाजें अतल से आती-सी लगती हैं, और वह अंतिम बार जोर से चीखता है, 'नहीं, मुझे बचा लो...बचा लो...।' उसकी आंख खुल जाती है। मां-बाबा-रानू सब उसे घेरे बैठे थे चौके में, उसके अपने बिस्तर पर। उसने फिर से आंखें बंद कर लीं तो उसे फिर अपना वह भयानक चेहरा दीखा, जीने के लिए छटपटाता हुआ लेकिन मर जाने की अनिवार्य दहशत से त्रस्त और उसने एकदम आंखें खोल दीं। 'क्या हुआ आशी?' अपना चेहरा उसे कभी भी याद नहीं आया था इससे पहले। उसने कसकर आंखों पर हाथ फेरा और कहा, 'कुछ हुआ नहीं...' ...'सपना देखा था तूने?' 'शायद...' उसने अनिश्चित-सी आवाज में कहा। वह अनुभव अभी भी उसकी नसों में झनझना रहा था। ❖

---

अगर मैं अपने से बड़े किसी विचार, आदर्श, **आइडिया** के लिए जीता हूं, तो स्पष्ट है कि मेरा जीवन एक यज्ञ है : उस विचार या आदर्श के लिए अर्पित आहुति मैं हूं।

**—अज्ञेय**

# रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताएं

❑

अनुवाद : **प्रयाग शुक्ल**

❑

●●

वासनाएं ललचातीं मुझे,
खींचती हैं वे अपनी ओर,
तुम्हीं, पर, करके कृपा कठोर
काट देते हो उनकी डोर।
दिया तुमने नभ, यह आलोक,
दिए हैं मुझको तन-मन-प्राण,
बिना मांगे इतना-कुछ दिया,
दिए हैं तुमने अनुपम दान।
मुझे लिप्सा ले कहीं न लील,
सदा रखा है इसका ध्यान।
भूल जाता हूं तुमको कभी,
कभी फिर जाता हूं मैं जाग,
कृपा के लिए तुम्हारी ओर,
चला आता हूं मैं फिर भाग।
किंतु हो तुम कितने निष्ठुर,
अचानक हो रहते हो ओट,
जानता हूं, पर, यह भी तो
अकारण नहीं दे रहे चोट!
चाहते रहूं नहीं निरूपाय,
चाहते बल मुझमें आ जाय,
पूर्णतर बनूं, रहूं ना दीन,
करें ना मुझे विलास मलीन।
इसी से हो जाते हो ओट,
मुझे तुम देकर एक कचोट।
तपाते रहते हो तुम मुझे
बचाते रहते हो तुम मुझे।

●●

'मैं तुम्हें चीह्नता' यह कहकर मैं लोगों में इतराता हूं।
अपने आंके वे चित्र उन्हें मैं गर्वित हो दिखलाता हूं।

वे आकर मुझसे कहते हैं,

'यह कौन भला इन चित्रों में, यह कौन, कहो?'

तब बोलूं क्या, यह समझ नहीं मैं पाता हूं।
चुप रह जाता, कहता केवल मैं धीरे-से,

'क्या जानूं, मैं यह क्या जानूं!'

वे कहते मुझको भला-बुरा
तुम मन-ही-मन मुस्काते हो।

अपने गीतों में रख तुमको, मैंने कितना दुहराया है,
है ढाल दिया मैंने वह सब, जो मेरे मन में आया है।

कितने आते, मुझसे कहते,
'जो गाया उसका अर्थ करो।'
मैं कह उठता, 'मैं क्या जानूं,
कैसे मैं उनका अर्थ करूं।'

वे हंस पड़ते, तुम भी मुस्काते मंद-मंद।
'मैं नहीं जानता हूं तुमको,' यह कहूं भला तो मैं क्योंकर!
पल-पल निज को झलकाते हो, ओझल होते मुझको छलकर।

पूर्णिमा रात्रि के शशि मुख से,
जब था अवगुंठन गया सरक,

तब इन नयनों से देखी थी, मैंने तेरी वह एक झलक।

छाती में मानो उठा ज्वार,
अकुलाई आंखें बार-बार।

सब चकित हो उठे मेरे क्षण,
मैं समझ गया, उतरे हो मेरे भीतर तुम,
रखते अपने स्निग्ध चरण!

है जाल बिछाया छंदों का,
बंशी में छेड़ीं मधुर धुनें,
फिर भी यह संशय उठता है,
तुमने वे बोल, सुने न सुने?

उत्तर दो चाहे ठुकराओ,
पर, मन मेरा हर ले जाओ।
चीह्नूं या चीह्नूं नहीं तुम्हें,

प्राणों को मेरे हरषाओ!

••

जब तुम कहते 'अब गाओ', यह हृदय गर्व से भरता,
इन आंखों से मैं छलछल, बस तुम्हें निहारा करता।
मन यही चाहने लगता,
जो कठिन और कटु मुझमें
वह गले, ढले गानों में,
होकर वह मधु-अमृत-सा, छा जाए बस प्राणों में।
साधना सभी जीवन की,
उड़-उड़ कर लगे विचरने—मीठी, पंछी-तानों में।

मेरे गीतों के सुर से तुम तृप्त, मुग्ध हो जाते,
अच्छे लगते वे तुमको, यह गान स्वयं बतलाते—
वे मुझे तुम्हारे सनमुख जाकर हैं बैठा आते।

मन जिसको देख न पाता, ये गान देख लेते हैं,
चरणों को छूकर आते, मुझको ये सुख देते हैं।
इनके हर राग मधुर से, इनके उठते हर सुर से,
मैं भूल स्वयं को जाता,
देखो, फिर अपने प्रभु को—'ओ, बंधु!' सहज कह पाता।

••

हो चित्त जहां भयशून्य, माथ हो उन्नत,
हो ज्ञान जहां पर मुक्त, खुला यह जग हो—
घर की दीवारें बनें न कोई कारा,
हो जहां सत्य ही स्रोत सभी शब्दों का,
हो लगन ठीक से ही सब-कुछ करने की,
हों नहीं रूढ़ियां रचतीं कोई मरुथल—
पाए न सूखने इस विवेक की धारा।
हो सदा विचारों-कर्मों की गति फलती,
बातें हों सारी सोची और विचारी,
हे पिता! मुक्त वह स्वर्ग रचाओ हममें,
बस, उसी स्वर्ग में जागे देश हमारा।

••

तुम मेरे हो प्रभु, रहो, चाह यह मेरी,
इस चाह बराबर मिले कृपा की ढेरी।
चहुंदिशि तुमको ही देखूं,
तुमको जानूं, निशि-दिन तुमको ही ढूंढूं, सब-कुछ मानूं।
इस चाह बराबर मिले कृपा की ढेरी,
तुम मेरे प्रभु हो, रहो, चाह यह मेरी!
तुम रहो न ओझल,
रहो पास में मेरे,
बस इसी चाह में रहूं,
नित्य दूं फेरे।
देखें ये लीला, प्राण, तुम्हारी, जग में।
इतनी ही इच्छा होती है, पग-पग में।
ले घेर मुझे तेरी बांहों का बंधन,
बस इतना ही तो चाह रहा है यह मन।
उस बंधन में बंध रहूं, कृपा हो तेरी,
तुम मेरे प्रभु हो, रहो, चाह यह मेरी।

••

हे नाथ! निवेदन यही शेष है मेरा,
तुम हरो क्षीणता सारी मेरे मन की,
दुख-सुख को सहने का तुम मुझको बल दो,
दो मुझे शक्ति इतनी कि सफल हो सेवा,
मैं कभी दबाऊं नहीं अकिंचन जन को,
बलशाली से मैं कभी न डर-भय पाऊं,
संकीर्ण न मन हो, माथ रहे यह उन्नत,
मैं तेरे ही चरणों में शीश नवाऊं,
बस रखूं सहज ही सदा भरोसा तेरा। ❖❖

*कविगुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बहुचर्चित-बहुपठित मूल बांग्ला पुस्तक 'गीताञ्जलि' का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया है : **वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर** ने। ये कविताएं इसी सद्य प्रकाशित पुस्तक से जैन भारती के पाठकों के लिए।*

**ऋषभायण में विरोधाभास......**पृष्ठ 34 का शेष

उद्‌घोषणा की—**मरुदेवा सिद्ध हो गई।** इसे सुन सारी परिषद में विस्मय से विचित्र स्थिति बनी।

**कान खुला है खुली आंख है/किंतु सभी हैं सहसा स्तब्ध।**
**चिंतन जैसे हुआ अचिंतन/अंतर्द्वंद्व हुआ प्रारब्ध॥**
(पृ. 157)

चिंतन अचिंतन कैसे हुआ और वहां फिर अंतर्द्वंद्व कैसे हुआ? दोनों एक-दूसरे से विरुद्ध बातें हैं। तात्पर्य है कि चिंतन विस्मय के कारण अवरुद्ध हो गया। श्रद्धा और तर्क का द्वंद्व प्रारंभ हो गया कि जो प्रत्यक्ष है वह सत्य है या भगवान की वाणी?

**(3) उपदेशगर्भित विरोधाभास**

रात्रि के समय अंधकार का अवतरण सहज है, पर उस समय भी हमारा चेतन आलोकित रहे। निद्रा के क्षण में भी अंतःजागृति का सिंहनाद सुनाई दे, इसी का संदेश देते हुए कहा गया है—

**तम उतर रहा पर चेता आलोकित हो।**
**निद्रा के क्षण पर भी जागृति अंकित हो।**
(पृ. 287)

भरत चक्रवर्ती के अयोध्या-आगमन से विनीता वासियों की पथराई आंखों में नवजीवन की लहर दौड़ गई। हर्षातिरेक से वे अवाक् हो गए पर उनका मानस साम्राज्य विस्तार की गौरव गाथा गा रहा था। सोते समय उनके चर्म चक्षु बंद थे, पर अंतर्दृष्टि जागृत थी—

**सब मौन किंतु वाणी का स्रोत अमर है।**
**युग नयन निमीलित किंतु दृष्टि उर्वर है।** (पृ. 287)

यहां विनीता-वासियों की आनंदावस्था के निरूपण के व्याज से आध्यात्मिक संप्रसाद का निरूपण है जहां वाणी नहीं, अनुभव बोलता है। चर्मचक्षु नहीं, अंतश्चक्षु का उद्‌घाटन होता है।

**(4) अनेकांतगर्भित विरोधाभास**

अनेक स्थलों पर विरोध दिखाई देता है, पर अनेकांत दृष्टि से वह विरोध नहीं है, यथा—

**दो का नाम अभय है भाई/भय का अर्थ अकेला है।**
**द्वंद्व सत्य द्वंद्वात्मक जग में/गुरु के आगे चेला है।**
(पृ. 43)

दो सापेक्षता का प्रतीक है, एक निरपेक्षता का। जहां सापेक्षता है, वहां सत्य है और जहां सत्य है वहां अभय। एकांत निरपेक्ष होता है और उसे अपने प्रतिपक्षी एकांत से सदा भय बना रहता है। सुंदोपसुंद न्याय से एकांत की पराजय हो जाती है। गुरु के आगे चेला है कहने का तात्पर्य है—निश्चय नय गुरुस्थानीय होने पर भी जगत का व्यवहार, व्यवहार नय के बिना नहीं चल सकता। अतः जागतिक परिप्रेक्ष्य में उसकी प्रधानता है। इसी प्रकार **जलधि शांत है वही तरंगित** (पृ. 28), **जैसे-जैसे निकट-निकट प्रभु/वैसे-वैसे लगते दूर॥** (पृ. 194), **मरुदेवा मर अमर हो गई।** (पृ. 157), **छोटा-सा पथ हुआ प्रलम्ब।** (पृ. 194), **दृश्य हुआ है सहसा दिनकर/तीव्र रश्मि से बना अदृश्य।** (पृ. 195) तथा **मौन भी बोला।** (पृ. 174) आदि अनेकशः विरोधाभाषी अलंकारों का सुंदर निदर्शन 'ऋषभायण' में मिलता है।

अनेकांत-दृष्टि से यह अलंकार शब्द और अर्थ की अनेक अर्थ-छवियों का अद्‌भुत सृजन करने में सक्षम है।

❖

---

मैं प्रत्येक सुशिक्षित स्त्री या पुरुष का यह फर्ज मानता हूं कि वह संसार-भर के धर्म ग्रंथों को सहानुभूति से पढ़े। यदि हम दूसरों के धर्मों की उतनी ही इज्जत करना चाहते हैं, जितनी हम उनसे अपने धर्म की कराना चाहते हैं, तो संसार के सभी मतों का प्रेमभाव से अध्ययन करना हमारा पवित्र कर्तव्य हो जाता है।

हमको इस बात से डरने की कतई जरूरत नहीं है कि दूसरे मजहब हमारे सयाने बालकों पर अपना असर डाल देंगे। हम बालकों को संसार के निर्दोष साहित्य का अध्ययन बिना भेद-भाव के करने के लिए उत्साहित करके उनका जीवन के प्रति दृष्टिकोण उदार बनाते हैं।

**—म. गांधी**

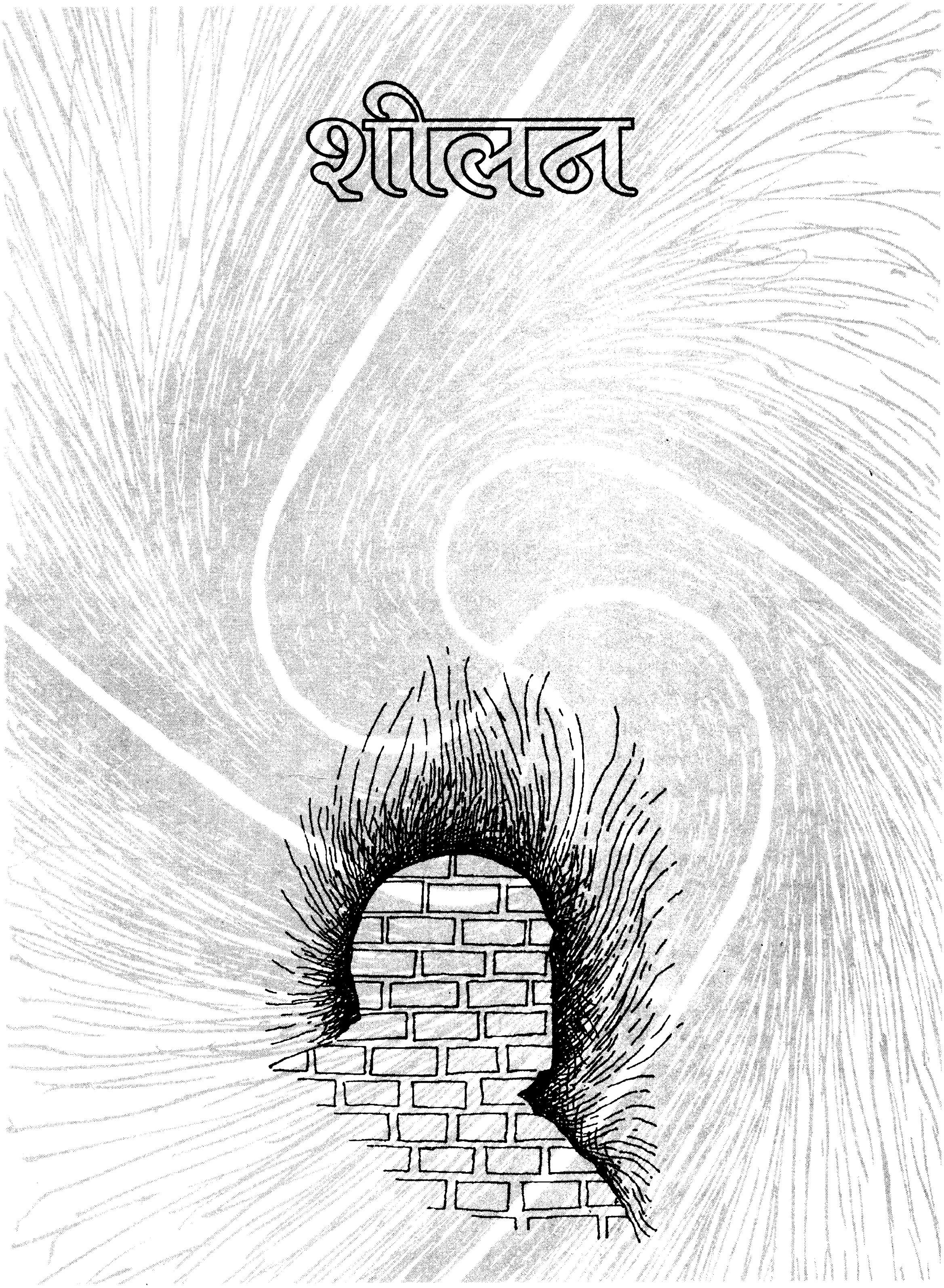
शीलन

अपसंस्कृति वही है जो जीवन में वैसे तत्त्वों को घोलती है जो लोगों के जीवन के लिए परिवेश के हिसाब से प्रतिकूल स्थितियां पैदा करती है। ऐसे प्रभाव प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं और परोक्ष भी। प्रत्यक्ष रूप से हथियारों के विकास का रुझान और युद्ध की मानसिकता, चाहे वह राष्ट्र के नाम पर हो, मूल के नाम पर हो या धर्म के नाम पर, निर्विवाद रूप से जीवन को नष्ट करने वाली है और अपसंस्कृति है। परोक्ष रूप से ऐसी जीवन पद्धति, जो संसाधनों के अतिदोहन पर निर्भर करती है या मनुष्यों के स्वास्थ्य या संबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, अपसंस्कृति की श्रेणी में रखी जाएगी। इस दृष्टि से वर्तमान समाज की पूरी उपभोक्तावादी संस्कृति अपसंस्कृति की कोटि में आएगी क्योंकि इससे संसाधनों का तेजी से क्षय होता है जिससे अंततः जीवन का आधार नष्ट हो जाएगा।

—**सच्चिदानन्द सिन्हा**

अक्षय तृतीया : वर्षीतप

*श्रेयांस के प्रासाद में उसी दिन ताजे इक्षुरस से भरे हुए एक सौ आठ घड़े भेंटस्वरूप आए हुए थे। उस समय वही शुद्ध पदार्थ विद्यमान था। कुमार ने उसे ग्रहण करने के लिए बड़े श्रद्धासिक्त भाव से प्रार्थना की। भगवान कर-पात्र ही थे। सर्वथा शुद्ध आहार देखकर उन्होंने इक्षुरस ग्रहण किया। एक वर्ष और चालीस दिनों की लंबी अवधि के पश्चात् उन्होंने प्रथम भोजन किया। वह वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था।*

अक्षय तृतीया : वर्षीतप

# ऋषभ : राजतंत्र से धर्मचक्र तक

❑ मुनि आनंदकुमार (कालू) ❑

जैन समाज में वर्षीतप करने का प्रचलन काफी लंबे समय से अनवरत चल रहा है। कहा जाता है कि इसका प्रारंभ पुराण पुरुष भगवान ऋषभदेव के घोर तप की स्मृति एवं अनुकरण के रूप में हुआ। भगवान ऋषभ वर्तमान मानव-परंपरा के आदि पुरुष थे। अतः उन्हें भगवान आदिनाथ भी कहा जाता है। जैन धर्म के महान चौबीस तीर्थंकरों में वे प्रथम तीर्थंकर थे। सामूहिक जीवन व्यवस्था, राज व्यवस्था और दंड व्यवस्था के आद्य अंकुर उन्हीं के द्वारा उत्पन्न किए गए थे। अध्यात्म के आदि स्रोत भी वे ही थे। वे सप्तम कुलकर नाभि और मरुदेवी के पुत्र थे। चैत्र कृष्णा अष्टमी को उनका जन्म हुआ।

**यौगलिक युग**

जैन काल-गणना के अनुसार एक कालचक्र पूर्ण होने पर क्रमिक विकास और ह्रास का भी एक चक्र पूरा हो जाता है। फलतः सारी स्थितियां पुनः पूर्वरूप में आ जाती हैं। प्रत्येक कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—ये दो विभाग होते हैं। प्रत्येक विभाग के छह 'अर' या विभागांश होते हैं। भगवान ऋषभ अवसर्पिणी काल में उत्पन्न हुए। उस समय तक उसके प्रथम दो 'अर' पूर्ण हो चुके थे। तीसरे का बहुलांश व्यतीत हो चुका था। अवसर्पिणी काल के उस समय को यौगलिक युग कहा जाता है। पुरुष और स्त्री का युगल ही उस समय सब-कुछ था। प्रत्येक युगल अपने जीवनकाल में मात्र एक नए युगल को जन्म देता था। न जन्म-संख्या में वृद्धि थी और न ह्रास। कुल, वर्ग और जाति भी नहीं थे। जन्य-जनक एवं पति-पत्नी के अतिरिक्त संबंध विकसित नहीं हुए थे। सभी व्यक्ति सरल, शांत और आशुतोष प्रकृति के थे। अशन, वसन, निवास आदि की बहुत सीमित आकांक्षाएं थीं। उन सबकी पूर्ति कल्पवृक्षों द्वारा हो जाती थी। काम करके जीविका प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं थी। संग्रह, चोरी और असत्य के मनोभाव उत्पन्न नहीं हुए थे। वैर, विरोध और ईर्ष्या-द्वेष भी नहीं थे। सभी व्यक्ति सहज आनंद की अनुभूति में जीवन-यापन करते थे।

**कुलकर व्यवस्था**

काल का चक्र घूमा। धीरे-धीरे भूमि की सरसता में कमी आई। वर्ण, गंध, रस और स्पर्श की श्रेष्ठता अपेक्षाकृत न्यून हुई। फलतः कल्पवृक्षों की शक्ति और संख्या भी क्षीण होती चली गई। आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम होने लगे। तब मुक्त साधनों पर अधिकार जमाने का भाव जागा। इस स्थिति ने आपसी संघर्ष को जन्म दिया। आपाधापी और अपराधवृति बढ़ने लगी। यौगलिक व्यवस्था चरमराई तो लोग क्षेत्रीय आधार पर संगठित होने लगे। इन संगठनों को 'कुल' कहा गया। देख-रेख और नियंत्रण के लिए एक व्यक्ति को मुखिया बनाया गया। उसे 'कुलकर' नाम दिया गया। उसे न्याय करने तथा अन्यायी को दंड देने का अधिकार भी था। 'कुलकर व्यवस्था' सात पीढ़ियों तक चली। इसे राजतंत्र का प्रारंभिक रूप कहा जा सकता है। सात कुलकरों के नाम क्रमश इस प्रकार हैं—विमलवाहन, चक्षुष्मान्, यशस्वी, अभिचंद्र, प्रसेनजित, मरुदेव, और नाभि। प्रथम दो कुलकरों के युग में सामान्य अपराध होने लगे थे। अपराधविरति के लिए दंड रूप से 'हाकार' नीति का प्रयोग किया जाने लगा। 'हाय! तूने यह क्या किया।' इतना कहने मात्र से दोषी लज्जित हो जाता और आगे के लिए वैसा करने का साहस नहीं करता।

खेद-प्रकाशन का यह दंड कालांतर में सहज हो गया। तब अगली दो पीढ़ियों में 'माकार' नीति का प्रयोग विकसित हुआ। सामान्य दोषों के लिए—'हाकार' और विशेष दोषों के लिए 'माकार' अर्थात् 'ऐसा मत करो'—यह निषेधात्मक दंड काम में लिया गया। जब यह भी स्वल्प प्रभावी होने लगा तब पांचवीं, छठी, सातवीं पीढ़ी के कुलकरों ने 'धिक्कार' नीति का अवलंबन लिया। छोटे दोषों के लिए 'हाकार', मध्यम दोषों के लिए 'माकार' और बड़े दोषों के लिए धिक्कार, कहकर दोषकर्ता को तिरस्कृत किया जाता।

**राज-व्यवस्था**

सप्तम कुलकर नाभि के नेतृत्व काल तक आते-आते पूर्वापेक्षा भूमि की सरसता में काफी अंतर आ गया। कल्पवृक्षों की संख्या अतिन्यून हो गई। अशन, वसन की दुर्लभता ने शांत और प्रसन्न रहने वाले युगलों में अशांति के बीज अंकुरित किए। वे परस्पर झगड़ने लगे। धिक्कार नीति तक के शाब्दिक दंडों की व्यवस्था अप्रभावी हो गई। वे घबराए और मिलकर नाभि एवं कुमार ऋषभ को सूचित करने आए। राज-व्यवस्था की कल्पना और नाभि के आदेश से ऋषभ को राजा घोषित किया गया। ऋषभ प्रथम राजा बने। उन्होंने अपने विशिष्ट ज्ञान के बल पर जीवन-व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन करने की योजना को कार्यान्वित करना प्रारंभ किया। राजधानी के रूप में जो मुख्य नगर बसा, उसका नाम 'विनीता' रखा गया। कालांतर में उसे 'अयोध्या' या 'साकेत' कहा जाने लगा। वनवासी संस्कारों से हटकर गृहवासी बनने लगे। सुख एवं समृद्धि के लिए पशु-पालन की पद्धति विकसित हुई। गायों, घोड़ों और हाथियों का विशेष उपयोग होने लगा। राजा ऋषभ ने प्रजा को संतानवत् पालना प्रारंभ किया। राज्य की सुव्यवस्था के लिए उन्होंने विभिन्न अधिकार-संपन्न चार प्रकार के कुलों की स्थापना की। उनके नाम थे उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय।

नागरिक जीवन व्यवस्थित चलता रहे और चोर-लुटेरे आदि प्रजा-पीड़क लोग दंडित किए जा सकें, इसलिए आरक्षी दलों की नियुक्ति की गई। ये लोग उग्र कुल में गिने गए।

समग्र राज्य के सज्जनों की सुरक्षा एवं दुर्जनों के नियंत्रण हेतु मंत्रणा कर उचित व्यवस्था देने वाली मंत्री परिषद् का गठन किया गया। वे भोग कुल में गिने गए।

राजा ऋषभ के जो समवयस्क उनके निर्दिष्ट कार्यों को संपन्न करने हेतु नियुक्त किए गए तथा जिन्हें दूरस्थ क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व सौंपा गया, वे राजन्य कुल के कहलाए।

राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए चतुरंग सेना एवं सेनापतियों की नियुक्ति की गई, वे सब क्षत्रिय कहलाए।

राज्य का अनुशासन भंग करने वालों तथा प्रजा-पीड़कों को रोध, बंधन एवं ताड़न के रूप में शारीरिक दंड का विधान उसी समय से प्रारंभ किया गया।

**विवाह पद्धति का प्रारंभ**

ऋषभ के शैशव काल से ही युग में बदलाव के चिह्न स्पष्ट होने लगे थे। उस समय तक हर युगल का जन्म एवं मरण साथ-साथ में ही होता था। परंतु एक दुर्घटना ने उस स्थिति में आने वाले शैथिल्य की सूचना दे दी। एक माता-पिता ने अपने नवजात युगल शिशुओं को ताड़वृक्ष के नीचे सुला दिया। अचानक एक फल टूटकर बालक के सिर पर गिरा और उसकी मृत्यु हो गई। उस युग की वह प्रथम अकाल मृत्यु थी। कालांतर में माता-पिता भी मर गए, तब बालिका अकेली रह गई। उसका अकेलापन सभी के लिए आश्चर्य की बात थी। लोग उसे कुलकर नाभि के पास लाए। उन्होंने उसे अपने युवा पुत्र ऋषभ की पत्नी के रूप में सौंप दिया। ऋषभ ने अपनी सहोदरी सुमंगला के साथ-साथ सुनंदा से भी विवाह किया। तभी से विवाह पद्धति का प्रचलन हुआ। उसके बाद लोग सहोदरी के अतिरिक्त अन्य कन्याओं से विवाह करने लगे।

**खाद्य समस्या का हल**

कुलकर व्यवस्था के प्रारंभ काल से ही कल्पवृक्षों का क्रमिक ह्रास प्रारंभ हो गया था। उस समय लोगों ने अन्य वृक्षों के फल तथा कंद, मूल आदि को भोजन सामग्री बनाया। बाद में वनवास छोड़कर ग्राम या नगरवास प्रारंभ होने पर कंद-मूल एवं फलों की भी सर्व-सुलभता नहीं रही। ऋषभ ने तब मनुष्य द्वारा बोए जाने योग्य शाली, गोधूम, चणक आदि भोज्य अन्नों को चुना और कृषि पद्धति द्वारा उन्हें बोने एवं संगृहीत करने की विधि सिखलाई। वातावरण में अतिस्निग्धता होने के कारण उस समय तक अग्नि उत्पन्न नहीं हुई थी। कालांतर में स्निग्धता के साथ का आनुपातिक योग बना, तब वृक्षों के पारस्परिक घर्षण से अग्नि उत्पन्न हुई। वह फैली और जलने लगी। नई वस्तु देखकर लोग भयभीत हुए। उन्होंने ऋषभ को उसकी सूचना दी। उन्होंने लोगों को अग्नि के उपयोग तथा पाक-विद्या का प्रशिक्षण दिया। खाद्य समस्या का सहज हल उपलब्ध हो गया।

### कला, शिल्प और व्यवस्था

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुषोपयोगी 72 कलाओं का प्रशिक्षण दिया। कनिष्ठ पुत्र बाहुबली को विभिन्न प्राणियों के लक्षणों का ज्ञान दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को लिपि-ज्ञान और छोटी पुत्री सुंदरी को गणित-ज्ञान दिया। उन दोनों को स्त्रीजनोपयोगी 64 कलाएं भी सिखलाईं। इनके अतिरिक्त चिकित्सा, अर्थ और धनुर्विद्या आदि विभिन्न विद्याओं का प्रशिक्षण देकर लोगों को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बनाया। जनोपयोगी वस्तुओं के निर्माण-प्रशिक्षण से अनेक प्रकार के शिल्पों का उद्भव हुआ। निवास के लिए गृह-निर्माण, अन्न आदि पकाने के लिए पात्र-निर्माण, वस्त्र-निर्माण, चित्रकारी और क्षौरकर्म आदि पदार्थों का विकास हुआ। तब उनके विनिमय की भी आवश्यकता महसूस हुई। फलतः व्यवसाय का प्रशिक्षण दिया गया। वस्तुओं के आयात-निर्यात तथा यातायात सुलभता के लिए शकट, रथ आदि वाहनों का निर्माण हुआ। पदार्थ बढ़े तो संग्रह का भाव जागा। ममत्व बढ़ा। वस्तु और व्यक्ति निज-पर की तुला पर तोले जाने लगे। लोकैषणा और धनैषणा की ओर लोक-मानस खिंचने लगा।

### साधना मार्ग पर

कर्तव्य-बुद्धि से लोक-व्यवस्था को गति देते हुए ऋषभ ने लंबे समय तक राज्य किया। उनके राज्यकाल में यौगलिक जीवन का पूर्ण रूप से मानवीकरण हो गया। सामाजिक विकास के साथ-साथ अनेक परंपराएं उत्पन्न हुईं। जन्म, विवाह आदि अवसरों पर उत्सव तथा मृत्यु पर शोक मनाया जाने लगा। जीवन के अग्रिम भाग में ऋषभ भोगवाद से विरत होकर त्याग एवं संयम की ओर उन्मुख हुए। वे जन्म से अवधिज्ञानी (एक प्रकार के अतींद्रिय ज्ञानयुक्त) थे। उसी के आधार पर उन्होंने पहले लोक-धर्म का प्रवर्तन किया। उसके सुस्थिर हो जाने के पश्चात् उत्तरकाल में उससे भी आगे लोकोत्तर धर्म या मोक्ष-धर्म के प्रवर्तन की तैयारी की। राज्य की सुव्यवस्था चालू रहे, इसलिए ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। बाहुबली आदि शेष 99 पुत्रों को भी अलग-अलग राज्यों का भार सौंपा। उसके पश्चात् चैत्र कृष्णा अष्टमी को आत्म-साधना के मार्ग पर चरणन्यास कर दिया। ऋषभ ने संयम व्रत के साथ ही मौन ग्रहण कर लिया। उस समय के लोग आहार-दान की विधि से सर्वथा अपरिचित थे। कोई याचक था ही नहीं। भगवान पैदल विहार करते और आहार-याचना के लिए जाते। उन्हें अपने घर आया देखकर लोग गद्गद हो जाते। अश्व, रथ, आभूषण आदि भेंट ग्रहण करने का आग्रह करते, परंतु भोजन के लिए कोई कुछ नहीं पूछता। इतनी छोटी चीज के लिए पूछना किसी को याद ही नहीं आता। अंतराय कर्म का अनिवार्य उदय समझकर भगवान निराहार ही विचरण करते रहे। वे अनंत शक्तिसंपन्न थे; अतः उस दुस्सह परीषह में भी अडोल रहे। उनके साथ चार हजार व्यक्ति दीक्षित हुए थे। परंतु किसी को साधना-पद्धति का ज्ञान नहीं था। सभी भगवान का अनुसरण एवं अनुकरण करते रहे। मौनी बनकर बुभुक्षित विचरण करते रहना उनके लिए कुछ ही दिनों में असंभव हो गया। बार-बार पूछने पर भी भगवान ने अपना मुंह नहीं खोला। तब वे सब अपनी-अपनी मनःकल्पित साधना करने लगे। घर छोड़ देने के पश्चात् वापस वहां जाना उपयुक्त नहीं लगा, अतः वे वनवासी बनकर कंद-मूल खाने लगे और वल्कल पहनकर रहने लगे।

### वर्षीतप और पारणा

भगवान एक वर्ष से भी अधिक समय निराहार विचरते रहे। एक बार वे हस्तिनापुर पधारे। वहां बाहुबली का पुत्र सोमप्रभ राज्य करता था। उसके पुत्र श्रेयांस ने प्रपितामह के आगमन की बात सुनी तो तत्काल राज-भवन से बाहर आया और भगवान के चरणों में वंदन किया। उन्हें मुनिरूप में देखा तो उसे वह स्वरूप परिचित-सा लगा 'ऊहापोह' करने पर उसे तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पूर्व भव में अपनी साधुता और अपनी समग्र चर्या उसके सामने स्पष्ट भाषित हो गई।

श्रेयांस के प्रासाद में उसी दिन ताजे इक्षुरस से भरे हुए एक सौ आठ घड़े भेंटस्वरूप आए हुए थे। उस समय वही शुद्ध पदार्थ विद्यमान था। कुमार ने उसे ग्रहण करने के लिए बड़े श्रद्धासिक्त भाव से प्रार्थना की। भगवान कर-पात्री ही थे। सर्वथा शुद्ध आहार देखकर उन्होंने इक्षुरस ग्रहण किया। एक वर्ष और चालीस दिनों की लंबी अवधि के पश्चात् उन्होंने प्रथम भोजन किया। वह वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था।

### अक्षय तृतीया

प्रथम दानदाता बनकर श्रेयांस ने अक्षय पुण्य तथा यश का अर्जन किया। वह दान भगवान के महान तप की संपन्नता में सहायक बनकर सदा-सदा के लिए अक्षय बन गया। इसलिए इस तृतीया को अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इस दिन इक्षुरस का दान दिया गया था, अतः इसे इक्षु तृतीया भी कहा जाता है। यह दिन अब एक महत्त्वपूर्ण पर्व के रूप में प्रतिष्ठित है। यह दिन किसी भी

शुभ कार्य को प्रारंभ करने के लिए स्वतःसिद्ध शुभ मुहूर्त माना जाता है।

### वर्तमान वर्षीतप

भगवान ऋषभ ने संकल्पपूर्वक वर्ष-भर के लिए तप प्रारंभ नहीं किया था। वह तो दान-बुद्धि की अनभिज्ञता के कारण शुद्ध आहार न मिलने से स्वतः ही हो गया था। वर्तमान का वर्षीतप वर्ष-भर के लिए संकल्पपूर्वक प्रारंभ किया जाता है। भगवान का तप चैत्र कृष्णा अष्टमी से प्रारंभ हुआ। उसका पारणा अगले वर्ष की वैशाख शुक्ला तृतीया को पूरा हुआ। वर्तमान के वर्षीतप का संकल्प वैशाख शुक्ला तीज को ग्रहण किया जाता है और वह आगामी दिन से प्रारंभ होकर अगले वर्ष की वैशाख शुक्ला तीज को संपन्न होता है। भगवान का वर्षीतप निरंतर निराहार रूप में था। जबकि वर्तमान वर्षीतप एकांतर उपवास के रूप में है। कोई चाहे तो बीच-बीच में एक उपवास से अधिक तप भी कर सकता है। भगवान का वर्षीतप विनीता (अयोध्या) से प्रारंभ हुआ, हस्तिनापुर में संपन्न हुआ। वर्तमान में वर्षीतप यों तो किसी भी क्षेत्र से प्रारंभ और संपन्न किया जा सकता है, परंतु तपकर्ता बहुधा उसका प्रारंभ किसी आचार्य या साधु-साध्वी के पास संकल्प करके करता है तथा उसकी संपन्नता किसी तीर्थ-स्थल या किन्हीं साधु-साध्वियों या आचार्यों के सान्निध्य में करने का प्रयास करता है। तेरापंथ में कई वर्षों से यथा-सुविधा कहीं भी संकल्प ग्रहण कर लिया जाता है, परंतु पारणा प्रायः सामूहिक रूप से आचार्यश्री के सान्निध्य में किया जाता है। अक्षय तृतीया का यह पर्व आत्म-शोधन की प्रक्रिया का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। वर्ष-भर एकांतर तप करना भी व्यक्ति की अनासक्ति, सहिष्णुता, धैर्य, दृढ़ मनोबल एवं गहरी आस्था का प्रतीक है। ❖

---

कोई भी नैतिक व्यवस्था अहिंसा बोध के बिना संभव नहीं है। विभिन्न जीवन-प्रणालियों का सह-अस्तित्व इस अहिंसा-दृष्टि के चलते ही संभव होता है, जिसमें अन्य के अधिकारों का सम्मान हमारा धर्म हो जाता है। भारतीय समाज आज भी गहरे स्तरों पर सृष्टि की तात्त्विक एकता और मानवेतर सृष्टि तक के प्रति अपने उत्तरदायित्व का बोध करता है—यद्यपि तात्कालिक राजनीतिक-आर्थिक व्यवहार ने इस बोध में बहुत दरारें पैदा कर दी हैं। इसी बोध ने अहिंसक संघर्ष किया था, जिसने देश में नए जीवन का संचार किया। लेकिन आजादी मिलने के बाद जिस आर्थिक-राजनीतिक व्यवस्था का विकास हुआ है, वह अपनी मूल प्रेरणा और प्रक्रिया में अहिंसक नहीं है। इस कारण समस्याओं का पुंज जटिल और विकराल होता गया है। आज भारतीय समाज जिन चुनौतियों का सामना कर रहा है उनके समाधान की दिशा एक समग्रतामूलक अहिंसा बोध में ही हो सकती है—अहिंसा अपने सूक्ष्मतर और व्यापकतर अर्थों में। यह बहुत संभव है कि इस दृष्टि से विकसित की जाने वाली संस्थाओं में कुछ कमियां रह जाएं और कालांतर में उन्हें संशोधित करना पड़े। लेकिन मूल बात यह है कि हमारी दिशा क्या है और वह हमारे लोकचित्त की बनावट के अनुकूल है या नहीं—क्योंकि उसके बिना कोई भी समाधान द्वंद्व ही पैदा करता है। इस संदर्भ में डॉ. राधाकृष्णन् का यह कथन द्रष्टव्य है कि *संस्थाएं तो और अच्छी व्यवस्था तक पहुंचने की सीढ़ियां मात्र हैं। यह ठीक है कि असंभव पूर्णता की खोज में हमें अपने-आप को खो बैठने की जरूरत नहीं है, फिर भी अपूर्णता को हटाने और आदर्श की ओर बढ़ने के लिए हमें निरंतर प्रयत्नशील रहना चाहिए। सभ्यता में प्रगति की परख इस बात से की जाती है कि ऐसे अवसर कितने आए और वे किस ढंग के थे, जिन पर नियम का अपवाद करने की छूट दी गई।*

**—नन्दकिशोर आचार्य**

बुद्ध जयंती पर विशेष

*'मैं भी किसान हूं। मैं श्रद्धा का बीज बोता हूं। उस पर तपश्चर्या (प्रयत्नों) की वृष्टि (वर्षा) होती है। प्रज्ञा मेरा हल है। पाप-लज्जा हल का मूठ है, चित्त रस्सियां हैं, स्मृति (जागृति) हल की फाल और चाबुक है। शरीर एवं वाणी से मैं संयम रखता हूं। आहार में नियमित रहकर सत्य द्वारा मैं (मनदोषों की) गोड़ाई करता हूं। संतोष मेरी छुट्टी है। उत्साह मेरे बैल हैं। मेरा वाहन ऐसी दिशा में जाता है जहां शोक नहीं करना पड़ता।'*

# खेती—नीतिमत्ता की

❑ धर्मानन्द कौसम्बी ❑

समाज में खेती, व्यापार आदि व्यवसाय चलते हैं, परंतु यदि जनता में संगठन न हो तो इन व्यवसायों से लाभ नहीं होगा। एक की बोई हुई फसल दूसरा काट ले जाएगा और किसी व्यापारी को कोई चोर लूटेगा। इस प्रकार समाज में यदि गड़बड़ फैल जाए तो उस समाज के व्यक्तियों को बहुत कष्ट उठाने पड़ेंगे। यह एकता शस्त्र-बल से पैदा की जा सकती है, मगर वह ज्यादा देर नहीं टिकती। परस्पर सौजन्य एवं त्याग से उत्पन्न होने वाली एकता ही सच्ची एकता कही जा सकती है। 'सुत्तनिपात' के कासिभारद्वाजसुत्त से ऐसा सिद्ध होता है कि इस प्रकार की एकता साधारण जन-समूह में उत्पन्न करना ही बुद्ध का हेतु था। उसका सारांश इस प्रकार है—

एक दिन बुद्ध भगवान भिक्षाटन करते हुए भारद्वाज ब्राह्मण के खेत में गए। वहां भारद्वाज ब्राह्मण अपने मजदूरों को भोजन दे रहा था। भगवान को भिक्षा के लिए खड़ा देखकर वह बोला, 'मेरी तरह तुम भी खेती में हल चलाओ, अनाज बोओ, फसल काटो और खाओ। तुम भीख क्यों मांगते हो?'

भगवान ने कहा, 'मैं भी किसान हूं। मैं श्रद्धा का बीज बोता हूं। उस पर तपश्चर्या (प्रयत्नों) की वृष्टि (वर्षा) होती है। प्रज्ञा मेरा हल है। पाप-लज्जा हल का मूठ है, चित्त रस्सियां हैं, स्मृति (जागृति) हल की फाल और चाबुक है। शरीर एवं वाणी से मैं संयम रखता हूं। आहार में नियमित रहकर सत्य द्वारा मैं (मनदोषों की) गोड़ाई करता हूं। संतोष मेरी छुट्टी है। उत्साह मेरे बैल हैं। मेरा वाहन ऐसी दिशा में जाता है जहां शोक नहीं करना पड़ता।'

इस कथन का अर्थ भारद्वाज झट समझ गया और वह बुद्ध का शिष्य बन गया।

इस उपदेश में बुद्ध ने खेती का निषेध नहीं किया। उनके उपदेश का निष्कर्ष इतना ही है कि यदि उस खेती को नीतिमत्ता का समर्थन प्राप्त न हुआ हो तो उससे समाज को सुख के बजाय दुख ही होगा। एक की बोई हुई खेती की फसल को कोई और ही काट ले जाए तो खेती करने के लिए कोई तैयार ही नहीं होगा और समाज में भयंकर अव्यवस्था फैल जाएगी। इसलिए प्रथमतः सबके हित-संबंध अहिंसात्मक होने चाहिएं। उस प्रकार की मानसिक खेती किए बिना इस भौतिक खेती का कुछ उपयोग नहीं होगा, यह जानकर बुद्ध ने अपने संघ को समाज में नैतिक जागृति लाने के लिए प्रवृत्त किया। इसलिए बौद्ध-संघ अल्पसंख्यक होते हुए भी थोड़े ही समय में साधारण जन-समूह में प्रिय बन गया और अपने पुरुषार्थ से वह आगे बढ़ता चला गया।

### संघ का संगठन

अपने संघ को कार्यक्षम बनाने के लिए बुद्ध भगवान ने बड़ी सावधानी रखी। संघ का संगठन उन्होंने ऐसा किया कि जिससे उनके पश्चात् उसमें एका रहे और उसके द्वारा अव्याहत रूप से जनसेवा होती रहे। वज्जियों के गणराज्यों में यहां के नेता एकत्र होकर विचारों का आदान-प्रदान करते और एक-दूसरे के हित के नियम बनाते। इसी पद्धति में कुछ परिवर्तन करके बुद्ध भगवान ने अपने भिक्षु-संघ में उसका प्रयोग किया होगा, ऐसा 'महापरिनिब्बानसुत्त' के आरंभ में आए हुए उल्लेखों से पता लगता है।

वस्सकार ब्राह्मण भगवान बुद्ध के पास जाता है और वज्जियों पर धावा बोल देने का अपने स्वामी अजातशत्रु का विचार भगवान से कह देता है। तब भगवान वस्सकार ब्राह्मण से कहते हैं कि, 'जब तक मेरे बताए हुए सात नियमों के अनुसार वज्जी लोग चलते रहेंगे तब तक उन्हें कोई भी

नहीं जीत सकेगा।' फिर वस्सकार के चले जाने के बाद भगवान भिक्षु-संघ से कहते हैं, 'हे भिक्षुओं, मैं आपको अभिवृद्धि (उत्कर्ष) के सात नियम बताता हूं—(1) जब तक भिक्षु अनेक बार एकत्र होते रहेंगे तब तक भिक्षुओं की अभिवृद्धि ही होगी, परिहानि नहीं होगी। (2) जब तक भिक्षु एकमत से जमा होंगे और एकमन से अपने संघ-कर्मों का विचार करके उठेंगे तब तक भिक्षुओं की अभिवृद्धि ही होगी, परिहानि नहीं होगी। (3) जब तक संघ के द्वारा बनाए हुए नियमों के विषय में भिक्षु यह नहीं कहेंगे कि वह संघ का बनाया हुआ है और जब तक संघ द्वारा बनाए गए नियम को वे नहीं तोड़ेंगे, नियम के रहस्य को समझकर उनके अनुसार चलेंगे तब तक भिक्षुओं की अभिवृद्धि ही होगी, परिहानि नहीं होगी। (4) जब तक भिक्षु वृद्धों और शीलवान नेताओं का मान रखेंगे, (5) जब तक भिक्षु बार-बार उत्पन्न होने वाली तृष्णा के वशीभूत नहीं होंगे, (6) जब तक भिक्षुओं को एकांतवास प्रिय लगता रहेगा, (7) जब तक न आए हुए सुज्ञ ब्रह्मचारी आ जाएं और आए हुए सुज्ञ सुब्रह्मचारी सुख से रहें, इसके लिए भिक्षु सदैव जागृत रहेंगे तब तक भिक्षुओं की अभिवृद्धि ही होगी, परिहानि नहीं होगी।'

इससे मालूम होता है कि संघ के एक स्थान पर जमा होने, एकमत से संघकृत्य करने, वृद्ध एवं शीलवान भिक्षुओं का मान रखने आदि के 'विनयपिटक' में मिलने वाले नियम बुद्ध भगवान ने वज्जियों के जैसे स्वतंत्र गणराज्यों में प्रचलित पद्धति से लिए थे।

### संघ के कुछ नियम जनरूढ़ियों से लिए गए थे

परंतु राज्यानुशासन के सभी नियम संघ पर लागू करना संभव नहीं था। संघ में कोई भिक्षु कुछ अपराध करे तो उसे अधिक-से-अधिक दंड दिया जाता था कि उसे संघ से निकाल दिया जाता था। इससे अधिक कठोर दंड नहीं था। क्योंकि संघ के सब नियम अहिंसात्मक थे। उसमें से बहुत-से नियम केवल प्रचलित जनरूढ़ियों से लिए गए थे। उदाहरण के लिए निम्नलिखित नियम देखिए—

बुद्ध भगवान आलवी के अग्गालव चेतिय में रहते थे। उस समय आलवक भिक्षु भवन-निर्माण का काम करते समय जमीन खुदवाते थे। उन पर लोग टीका-टिप्पणी करने लगे। जब भगवान को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने उनका निषेध करके भिक्षुओं के लिए यह नियम बना दिया कि 'जो भिक्षु जमीन खोदे या खुदवाए, उसे पाचित्तिय होता है।'

भगवान ने भिक्षुओं को इतनी आज्ञा दे रखी थी कि छोटी-सी कुटिया या साधारण विहार बनाकर उसमें रहें और उस कार्य के लिए स्वयं जमीन खोदना या औरों से खुदवाना कोई पाप नहीं था। फिर भी यह नियम केवल लोगों के संतोष के लिए करना पड़ा था। लगभग सभी श्रमण इस बात की सावधानी रखते थे कि छोटे-मोटे कीटाणुओं का नाश न हो। वे रात को दीपक तक भी नहीं जलाते थे। इसलिए कि उस दीपक पर पतंगों के आ गिरने की संभावना रहती थी और उनके इन आचारों के लोग अभ्यस्त हो गए थे। ऐसी स्थिति में कोई श्रमण स्वयं कुदाली लेकर जमीन खोदने लगता तो साधारण जनों के मन में ठेस पहुंचना बिल्कुल स्वाभाविक था। उसके साथ वाद-विवाद करके उनके दृष्टिकोण को बदल डालने की आवश्यकता बुद्ध भगवान को प्रतीत नहीं हुई। वे जानते थे कि तपश्चर्या में व्यर्थ समय न गंवाकर जनता को धर्मोपदेश देने और ध्यान समाधि के द्वारा स्वचित्त का दमन करने के लिए भिक्षुओं को अवसर मिल जाए तो संघ का कार्य सुलभ होगा। इसलिए जो रीति-रिवाज निरुपद्रवी थे उन्हें संघ में ले लेने में भगवान को कोई आपत्ति नहीं हुई।

### आचार के नियम

बुद्ध भगवान का यह उपदेश था कि भिक्षु इस प्रकार अत्यंत सादगी से रहें, तथापि मनुष्य-स्वभाव के अनुसार कुछ भिक्षु इन वस्तुओं के स्वीकार करने में भी नियम का उल्लंघन करते—अर्थात् तीन चीवरों से अधिक वस्त्र लेते, मिट्टी या लोहे का पात्र रखने के बजाय तांबे या पीतल का पात्र ले लेते और चीवर बहुत बड़े बनाते। इससे परिग्रह के लिए अवसर मिल जाता। उसे रोकने के लिए बहुत-से नियम बनाने पड़े। ऐसे नियमों की संख्या काफी बड़ी है।

'विनयपिटक' में भिक्षु-संघ के लिए कुल 227 निषेधात्मक नियम दिए गए हैं। उन्हें 'पातिमोक्ख' कहते हैं। उनमें से दो अनियत (अनियमित) और अंतिम 75 सेखिय यानी खाने-पीने, रहन-सहन, बातचीत आदि में सभ्यता के नियम बताने वाले हैं। इन्हें छोड़कर बाकी 150 नियमों को ही अशोक-काल में 'पातिमोक्ख' कहते थे, ऐसा लगता है। उससे पहले ये सारे नियम बने नहीं थे, और जो बने भी थे उनमें से बुनियादी नियमों को छोड़कर अन्य नियमों में उचित हेर-फेर करने का संघ को पूरा अधिकार था। परिनिर्वाण के पहले भगवान बुद्ध ने आनंद से कहा था, 'हे आनंद, यदि संघ की इच्छा हो तो वह मेरी मृत्यु के पश्चात् साधारण नियमों को छोड़ दे।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि छोटे-मोटे या मामूली नियमों को छोड़ने या देश-काल के अनुसार साधारण नियमों में हेर-फेर करने के लिए भगवान ने संघ को पूरी अनुमति दे दी थी। ❖

*भगवान ऋषभ की नीति थी कि राज्य और देश चाहे एक मनुष्य के हाथ में हों या किसी शासक दल के—उनका कर्तव्य है कि वे प्रजा या जनता का उसी प्रकार पालन-पोषण करें जिस प्रकार गाय अपने बछड़े का करती है। भली प्रकार पालित-पोषित प्रजा ही राज्य या देशशक्ति में वृद्धि कर सकती है। जिस देश की जनता शासक से असंतुष्ट हो, वह देश कभी शक्तिशाली नहीं बन सकता।*

# ऋषभ : सम्यक् राजनीतिक प्रणाली के प्रणेता

❑ समणी विपुलप्रज्ञा ❑

पहले तीर्थंकर भगवान ऋषभ हुए। पिता नाभि और माता मरुदेवी के लाडले ऋषभ को हमने नहीं देखा, पर धर्मशास्त्रों में उनके जीवन-चरित्र को पढ़ने और अनुश्रुति से ऐसा लगता है कि ऋषभ आज भी जीवित हैं। जिस व्यक्ति की प्रासंगिकता युगों-युगों तक जीवंत हो, वह सदा जीवित रहता है, चाहे फिर वह सिद्ध-मुक्त आत्मा ही क्यों न हो। भगवान ऋषभ का युग अद्वितीय व अपूर्व युग रहा। इसी युग में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक व्यवस्थाओं का सूत्रपात हुआ। आम जन के आग्रह और निवेदन पर कुलकर नाभि ने ऋषभ को राजा बना दिया। वे सर्वगुणसंपन्न थे। राजा ऋषभ ने अपने शासनकाल में जिस निपुणता, कूटनीति व दूरदृष्टि से राज्य का संचालन किया, वह आज भी सभी के लिए प्रेरणास्पद है। भगवान ऋषभ का व्यक्तित्व और कर्तृत्व विराट था, अनेक रूपों वाला था। उनकी अनेक विशेषताओं में एक मौलिक विशेषता यह थी कि वे कुशल राजनीतिज्ञ थे।

वर्तमान राजनीतिक हालात को देखकर ऐसा लगता है कि यदि हमारे राजनेता ऋषभ की राज्य संचालन कला को अपना आदर्श बनाएं तो निस्संदेह हमारी राजनीतिक प्रणाली सम्यक् बन सकती है। यह सच है कि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार स्थिति, वातावरण में अंतर आता है पर जब शासक के आचरण में, व्यवहार में और उसकी कथनी-करनी में अंतर आने लगता है तब राजनीति 'भोगनीति' बन जाती है और वह डगमगाने लगती है।

**कुशल राजनीतिज्ञ**

भगवान ऋषभ सफल कूटनीतिज्ञ थे। शासक का लक्ष्य देश के अधिकतम समुदाय के कल्याण का होता है। देश उन्नति के पथ पर अग्रसर हो, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ऋषभ सदा व्यावहारिक नीति का अनुसरण करते थे, जो देश-काल के अनुसार बदलती रहती है। अपने इस कौशल से राजा ऋषभ का जनता के साथ तादात्म्य बना रहा। एक दृष्टि से शासक का कूटनीतिज्ञ होना आवश्यक है। योगेश्वर कृष्ण ने कूटनीति के सहारे पांडवों को विजयश्री दिलाई थी और अयोध्यापति श्रीराम ने भी कूटनीति के बल पर ही वानर सेना को अपने वश में कर 'रावण-सेना' को पराजित किया था। चाणक्य ने भी सिकंदर की विश्वविजयी सेना का इसी तरह नाश किया था। अतः राजनीति के क्षेत्र में देश-काल के अनुसार परिवर्तन करने में ही राजनीतिज्ञ की सफलता है, उसकी कुशलता है।

**शासक कौन?**

ऋषभ प्रतिभासंपन्न थे, यशस्वी थे। वे योग्य व्यक्तियों का आदर करते और अपने राज्य में आश्रय देते थे। वे उदारता से दान देते और राज्यकोष की धनराशि का सदुपयोग करते। राजा और प्रजा के साथ मैत्री संबंध होने के कारण उनका कोई शत्रु नहीं था। इसी आधार पर वे कुशल राजनीतिज्ञ कहलाए। नीतिकार भर्तृहरि ने कहा है कि शासक में छह गुणों का होना अनिवार्य है।

'आज्ञा कीर्तिः पालनं ब्राह्मणानां
दानं भोगो मित्र संरक्षण च।
येषामेते षड्गुणा न प्रवृत्ताः,
कोऽर्थस्तेषां पार्थिवोपाश्रयेण।

अर्थात् एक विद्वान व्यक्ति ही शासनाधीश हो सकता है। जिसके पास विद्या नहीं, सामयिक ज्ञान नहीं—वह शासक, शासन करने के योग्य नहीं होता। दूसरा गुण है—यशस्वी होना—जो नेता अपने अनीतिपूर्ण व्यवहार से

बदनाम हो गया है, जनता उसे आदर की दृष्टि से नहीं देखती, वह शासक बनने योग्य नहीं होता। तीसरा गुण है—जो राजनेता अपने देश में विद्वानों, कवियों, श्रमिकों, विज्ञानवेत्ताओं का उचित सम्मान नहीं करते, वे भी कुशल शासक नहीं हो सकते। चौथा गुण है—जो राजनेता राजकोष के धन का उपयोग अपने परिजनों और मित्रों के लिए करते हैं, वे भी प्रशस्त शासक नहीं बन सकते। पांचवां गुण है—जो अर्जित धन का दुरुपयोग न करके देश समाज व जनता के विकास में सदुपयोग करते हैं, वे कुशल शासक बनते हैं। छठा गुण है—जो स्वार्थलिप्सा से ऊपर उठकर सबके साथ मैत्रीभाव व स्नेहभाव रखते हैं, वे कुशल शासक बनने योग्य होते हैं।

### दंडनीति का निर्धारण

साम, दाम व दंडनीति में निपुण भगवान ऋषभ ने तीन प्रकार की दंडनीति का निर्धारण किया। (1) हकारनीति—हे! तूने ऐसा अपराध किया। (2) मकार नीति—तुम ऐसा मत करो। (3) धिक्कार नीति—धिक्कार है तुझे।

जब तीनों नीतियों का प्रभाव कम होने लगा, कल्पवृक्ष की क्षमता घटने लगी, मानव के आपसी स्वार्थ टकराने लगे और पर्याप्त साधनों के अभाव में मानव का स्वभाव बिगड़ने लगा तब राजा ऋषभ ने अपनी सफल कूटनीति से सभी समस्याओं को समाहित किया और जनता को धर्मनीति का उपदेश दिया। राजा ऋषभ ने सोचा—यदि राजनीति पर धर्मनीति का अंकुश नहीं होगा तो नैतिकता का पतन हो जाएगा, ईमानदारी, विश्वासघात, धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, जातिवाद जैसी असाध्य बीमारियां उग्र रूप में उभरकर सामने आएंगी। धर्मनीति के अभाव में सभी दुर्गुणों को खुले-आम उच्छृंखलतापूर्वक स्वयं शासक के जीवन प्रवेश करने का अवसर भी मिल जाएगा। इसलिए राजनीति में दंडनीति के निर्धारण में धर्मनीति का अंकुश अवश्य हो।

### वर्तमान में राजनीति की स्थिति

एक बार कुत्तों की कांफ्रेंस हुई। विकास और उज्ज्वल भविष्य पर विचार-चर्चा आरंभ हुई। एक 'सज्जन कुत्ते' ने कहा—हमारा समाज आपस में लड़ने के लिए काफी बदनाम है। आज मानव-समाज विश्व-प्रेम के निकट पहुंच रहा है वहां हम एक रोटी के टुकड़े के लिए बुरी तरह लड़कर मर-मिटते हैं। अब समय आ गया है कि हम अपनी जाति का कलंक धोने के प्रयत्न में जुट जाएं और जाति-प्रेम बढ़ाएं। सबने मिलकर एक प्रस्ताव पारित किया—'कैसे ही प्रलोभन सामने आ जाएं, हम कभी भी लड़ेंगे नहीं।' प्रस्ताव का स्वर हवा में गूंज ही रहा था कि अचानक उड़ती हुई चील के मुख से एक हड्डी का टुकड़ा नीचे जमीन पर गिर गया। सभी कुत्ते देखते ही उस टुकड़े पर झपट पड़े। प्रस्ताव की गूंज तो अभी समाप्त ही नहीं हुई थी। जन्म के दूसरे क्षण में ही बेचारे प्रस्ताव के लिए मौत का वारंट आ गया। क्या यही स्थिति वर्तमान में राजनीति की देख रहे हैं? न जाने, जनता के कल्याण के लिए और देश की उन्नति के लिए कितने प्रस्ताव पारित किए जाते हैं, पर स्वार्थ व भ्रष्टाचार की ओट में प्रस्ताव की स्याही भी नहीं सूखती होगी कि प्रस्तावकर्ता के हाथों से ही उसकी मौत हो जाती है। अपने छोटे-से स्वार्थ के लिए जनता के बड़े हितों को कुचल दिया जाता है।

राजा ऋषभ ने कथनी और करनी में ऐक्य रखकर शासन किया। वर्तमान में परिस्थितियां बदल गई हैं। आज सफल राजनेता वह है जो अपनी कथनी और करनी के आधार पर जनता को भ्रमित करता है। राजनीतिक क्षेत्र में आज नेता की 'जुबान' सबसे अधिक चलती है। जनता नहीं बोलती, वह सुनती है और नेता बोलते हैं, वे सुनते नहीं, कम सुनते हैं। वे इतना बोलते हैं कि उन्हें कुछ याद भी नहीं रह पाता। इसीलिए सहज ही उनकी कथनी-करनी में अंतर बना रहता है।

वर्तमान में राजनीति सिद्धांतहीन बनती जा रही है। पक्षपात, केकड़ावृत्ति, भ्रष्टाचार मानो राजनेता के अपरिहार्य अंग बन रहे हैं। राजनीति प्रदूषित होने से देश-भक्ति भी वाचिक बन गई है। परिणाम-स्वरूप देश व समाज के कई महत्त्वपूर्ण मानक बिंदुओं पर कुप्रभाव पड़ रहा है। आज राजनीति पर से धर्मरूपी अंकुश हटता चला जा रहा है, फलस्वरूप नैतिकता लुप्त-सी हो गई है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नैतिक व धार्मिक मूल्यों का घोर पतन हो रहा है। हिसा की वारदातें प्रतिदिन उग्र रूप ले रही हैं।

### तेरापंथ का शासक

यह सच है कि ऋषभ राजा हमारे समक्ष नहीं हैं, पर उनके प्रतिरूप हम देख सकते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी हमारे सम्मुख हैं। मनीषी, दार्शनिक हैं—धर्माचार्य हैं, पर एक नेता को राज्य या देश का संचालन कैसे करना चाहिए, इसका मर्म आचार्यश्री महाप्रज्ञजी से मिल सकता है। भगवान ऋषभ के संपूर्ण जीवन-चरित्र की 'ऋषभायण' ग्रंथ में उन्होंने काव्यमय विवेचना की है। उनकी शासन-

नीति का भी अनुकरण किया है। तेरापंथ धर्मसंघ की स्वस्थ परंपरा है कि यहां एक आचार्य का अनुशासन पूरे संघ को सहर्ष स्वीकार्य होता है। तेरापंथ की पहचान है—'एक गुरु और एक विधान'। कोई भी सदस्य इस विधान का उल्लंघन नहीं कर सकता। दूसरी तरफ तेरापंथ के आचार्य अपने शिष्य-समुदाय का 'गोवत्स' की तरह पालन-पोषण करते हैं। यही कारण है कि इस 21वीं सदी में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के 'गोवत्स' अनुशासन में तेरापंथ पल्लवित व पुष्पित हो रहा है।

**कैसे हो प्रजापालन?**

भगवान ऋषभ की नीति थी कि राज्य और देश चाहे एक मनुष्य के हाथ में हों या किसी शासक दल के—उनका कर्तव्य है कि वे प्रजा या जनता का उसी प्रकार पालन-पोषण करें जिस प्रकार गाय अपने बछड़े का करती है। भली प्रकार पालित-पोषित प्रजा ही राज्य या देशशक्ति में वृद्धि कर सकती है। जिस देश की जनता शासक से असंतुष्ट हो, वह देश कभी शक्तिशाली नहीं बन सकता। इसी बात की नीतिकारों ने पुष्टि करते हुए कहा है कि—

राजन्! दुधुक्षसि यदि क्षितिधेनुमेनां,
तेनाद्य वत्समिव लोकममुं पुषाण।
तस्मिंश्च सम्यगनिशं परिपोष्यमाणे,
नानाफलैः फलति कल्पलते भूमिः॥

किसी भी देश के धन-वैभव की वृद्धि प्रजा की कार्यक्षमता पर निर्भर है। लोकतंत्र-प्रणाली में वही शासक सफल बन सकते हैं जो जनता के सेवक बनकर देश की सेवा करते हैं, न कि मालिक बनकर। यदि नेता जनशक्ति को बढ़ाने में प्रयत्नरत हों तो वे देश को हरदृष्टि से समृद्ध बना सकते हैं। जनता सुशिक्षित और स्वस्थ होगी तभी वह पूरा श्रम कर सकेगी। पर अक्सर देखा जाता है कि सत्ता की शक्ति हाथ में आने पर शासक मदोन्मत्त हो जाते हैं। इस उन्माद में वे जनता का शोषण करने लगते हैं। जिनके पास सत्ता है, कुर्सी है, वे फलने-फूलने लगते हैं और जनता दरिद्र एवं दुखी बनती जाती है। धीरे-धीरे राजनेता व जनता के बीच दूरी बढ़ती जाती है। जनता के दिल में शासक के प्रति घृणा व भय के भाव पैदा हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि देश की संपदा नष्ट होने लगती है। शक्ति का पतन होता है। फिर नरसंहार व हिंसात्मक घटनाएं विकृत रूपों में प्रकट होने लगती हैं। यदि राजनेता 'गोवत्स' की तरह प्रेम से प्रजा का पालन-पोषण करें तो देश की पृथ्वी कल्पलता बनकर भांति-भांति के अनेक फल देने लगेगी।

'जब जागे तभी सवेरा'—इस प्रेरक वाक्य के अनुसार सभी सत्ताधारी नेतागण 'भगवान ऋषभ' की तरह कुशल राजनीतिज्ञ बनने का दृढ़ संकल्प करें और इस संकल्प को प्राणवान बनाने के लिए अपने जीवन में अणुव्रतों को आत्मसात् करने का प्रयत्न करें तो वे कुशल राजनीतिज्ञ व प्रजाहित-पालक बन सकते हैं। ❖

## कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

बालकथा

*जब उसकी पत्नी मीनल को यह मालूम पड़ा कि उसका पति बुद्धिहीन होकर एक तांत्रिक के चक्कर में पड़कर हिंसा पर उतारू हो रहा है तो वह निडरतापूर्वक अपने पति के पास गई। उसने विनीत स्वर में कहा—'स्वामी! आप पगला गए हैं। कोई तांत्रिक और पिशाच मिट्टी से सोना नहीं बना सकता। यदि ऐसा होता तो वह तांत्रिक स्वयं सोने का महल क्यों नहीं बना लेता? उसे आपके पास आने की जरूरत ही क्यों होती?'*

# सच्चा सोना

❑ यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' ❑

राजा मोहसिंह एक कुलीन परिवार का था। उसकी रियासत में इतना अन्न उपजता था जिससे सारी जनता का पेट भर जाता था। इतना व्यवसाय था कि जिसके धन से लोग सुख-सुविधा से रहते थे। सारे अधिकारी रियासत में न्याय-व्यवस्था को सही रखते थे। कहने का मतलब था कि सुखी और शांत थी वह रियासत।

मोहसिंह ज्यादा दिनों तक राज्य नहीं कर पाया। उसकी मृत्यु हो गई। उसकी जगह उसका बेटा उदारसिंह रियासत का स्वामी बना।

कई बार नाम को लेकर भी मजाकें होती हैं। जैसे आंख का अंधा और नाम नयनसुख। खाने को एक रोटी नहीं, नाम अन्नाराम। जेब में तो एक फूटी कौड़ी नहीं, नाम धनीराम और पांवों से लंगड़ा, नाम धावकसिंह। यही नाम की विद्रूपता उदारसिंह के साथ थी। नाम था उदारसिंह, पर वह अत्यंत ही पाशविक वृत्ति और बौने दिमाग का था। उसने अपने पिता के समय कार्यरत सारे अधिकारियों को हटा दिया, क्योंकि अनुचित तरीके से वे धन-संग्रह करने को तैयार नहीं हुए।

नए अधिकारी उसके स्वभाव को समझ गए। वे उसकी हां-में-हां मिलाते थे और प्रजा से साम, दाम, दंड, भेद से धन संग्रह करते थे। उदारसिंह को सोने से बहुत प्यार था।

एक रात उदारसिंह ने सपना देखा कि उसका सारा राजमहल सोने का हो गया। उसने यह भी देखा कि उस महल की सारी वस्तुएं सोने की हो गई हैं।

दूसरे दिन उसने अपने दरबार में सारे दरबारियों व अधिकारियों से कहा कि उसका सपना कैसे सच्चा होगा? सबने कहा कि उसका सपना सच्चा तो सोने से ही होगा। मगर इतना सोना आएगा कैसे? सोना तो धन से आ सकता है या बल से।

उसके दीवान ने कहा—'महाराज! हमारे पास इतना तो क्या, महल की एक दीवार बनाने तक का सोना खरीदने का भी धन नहीं है और रही बल की बात, हम तो छोटी रियासत के हैं। सेना भी मुट्ठी-भर है।'

उदारसिंह ने झल्लाकर कहा—'फिर आप लोग किस मर्ज की दवा हैं? आप कोई उपाय सोचिए कि मैं अपना सपना साकार कर सकूं और इस राजमहल को सोने का बना सकूं।'

रात को जब राजा अपने शयनकक्ष में पहुंचा तब वह बड़ा ही परेशान था।

उसकी रानी मीनल ने पूछा—'स्वामी! क्या बात है? आप आज बहुत परेशान हैं।'

उसने लंबी सांस लेकर कहा—'रानी! मैंने एक सपना देखा है कि मेरा यह राजमहल और इसकी हर

वस्तु सोने की हो गई है। मैं इसे साकार करना चाहता हूं।'

रानी बहुत ही समझदार और विदुषी थी। बोली—'स्वामी! यह सपना हमारे धन-बल से तो पूरा नहीं हो सकता। ईश्वर ही कोई चमत्कार कर दें तो और बात है।...आप मेरी प्रार्थना पर ध्यान दें कि ऐसी असंभव बात को त्यागकर आप शांति से रहिए।'

'क्यों? क्या मैं अकर्मण्य हूं? ज्ञानहीन हूं?'

'स्वामी! मैंने पता लगाया हैं कि आपने समस्त पुराने स्वामी-भक्तों को निकाल दिया है और मसखरों व अयोग्य अधिकारियों की मंडली बना ली है। आपका वैभव दिन-प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा है।'

उदारसिंह को अपनी पत्नी का उपदेश जरा भी नहीं भाया। उसको लगा कि उसके पांव की जूती उसके सिर पर चढ़ रही है।

उसने उसे डांटते हुए कहा—'अपनी बुद्धि को अपनी खोपड़ी में रखो। मुझे तुम्हारी सलाह की कोई जरूरत नहीं है। मैं किसी भी हालत और कीमत पर अपने राजमहल को सोने का बनाऊंगा। इस पृथ्वी पर सबसे धनी आदमी बनूंगा सो बनूंगा, साथ ही सबसे ज्यादा सोना मेरे पास ही होगा।'

वह कुछ बोलना चाहती थी, पर उसने उसे संकेत से चुप कर दिया।

फिर क्या था? वह जितना सोने के लिए हाथ-पांव पटकता था, वह उतना ही दरिद्र होता जा रहा था। वह बहुत ही कष्ट में आने लगा।

एक दिन एक तांत्रिक को राजा की बात का पता चला। वह उसके पास आया।

उसने कहा—'राजन्! मैं अपार सोना बना सकता हूं? मेरे पास ऐसे जादू हैं जो बड़े से बड़ा चमत्कार कर सकते हैं?'

'तांत्रिकजी! आप तुरंत सोना बनाइए। मैं इन दिनों बहुत ही संकट में हूं। मुझ पर कई लोगों का कर्ज हो चुका है।'

'पर इसके लिए भी काफी खर्च करना पड़ेगा। तुम्हें स्वर्ण पर्वत के पास जाकर स्वर्ण मिट्टी लानी होगी। मैं उस मिट्टी को बाल-पिशाच से सोना कराऊंगा।'

उदारसिंह चौंका—'बाल-पिशाच।'

'हां, बाल पिशाच। वह मेरा तंत्रविद्या से सिद्ध किया हुआ पिशाच है।'

उदारसिंह सोचता रहा। फिर तांत्रिक ने कहा—'मुझे इसके लिए पांच कुंवारी कन्याओं की आत्माएं भी चाहिए। उनके बिना वह मिट्टी सोना नहीं बनेगी।'

'मैं इसकी व्यवस्था कर दूंगा पर स्वर्ण पर्वत कहां है?' उदारसिंह ने पूछा।

'उत्तर में। यहां से सौ कोस दूरी पर।'

'मैं वह मिट्टी मंगवा दूंगा।'

तांत्रिक ने कहा—'उसके लिए एक हवन कुंड, बकरे का खून, हिरण के मांस के टुकड़े, सफेद तिल भी चाहिए।'

'सब व्यवस्था हो जाएगी। मुझे तो बस, सोना चाहिए सोना।' वह बेचैनी से बोला।

जब उसकी पत्नी मीनल को यह मालूम पड़ा कि उसका पति बुद्धिहीन होकर एक तांत्रिक के चक्कर में पड़ कर हिंसा पर उतारू हो रहा है तो वह निडरतापूर्वक अपने पति के पास गई। उसने विनीत स्वर में कहा—'स्वामी! आप पगला गए हैं। कोई तांत्रिक और पिशाच मिट्टी से सोना नहीं बना सकता। यदि ऐसा होता तो वह तांत्रिक स्वयं सोने का महल क्यों नहीं बना लेता? उसे आपके पास आने की जरूरत ही क्यों होती?'

राजा ने उसे धक्का देकर कहा—'निठल्ली! मूर्ख! तुझे अपनी जान प्यारी नहीं है?'

'मुझे अपनी जान की कोई परवाह नहीं। आप इस तांत्रिक के चक्कर में पांच कन्याओं की आत्माएं व हिरणों व बकरों की हिंसा करेंगे? आप नहीं जानते कि हिंसा से बड़ा कोई पाप नहीं है। और व्यर्थ की हिंसा तो महापाप है।'

'मैं पाप-पुण्य की परवाह नहीं करता। मुझे तो बस, सोना चाहिए।' राजा कठोरता से बोला।

'मैं आपको यह अधर्म नहीं करने दूंगी।'

वह चीखा—'जल्लादों को बुलाकर लाओ। इस पति-विरोधिनी की सरेआम गर्दन अलग कर दो।'

राजा ने विवेकहीन होकर हुक्म दे डाला।

मीनल ने कोई चिंता नहीं की। वह अपने पति का विरोध करती रही।

उसी समय मीनल के भाई मधुपसिंह ने अपनी सेना के साथ प्रवेश किया। जब उसे मालूम पड़ा कि उसके बहनोई ने उसकी बहन को अकारण मृत्यु-दंड दे दिया है तो उसने तुरंत उदारसिंह को गिरफ्तार कर लिया। वह सोने का लोभी और निकम्मे-निठल्ले अधिकारियों का राजा जरा भी प्रतिरोध नहीं कर सका। उसने तांत्रिक को भी गिरफ्तार कर लिया। दूसरे दिन उसने दरबार लगाया। उसमें हथकड़ियों में जकड़े तांत्रिक को बुलाया। उदारसिंह को सत्य से अवगत कराने के लिए पूछा—'ओ तांत्रिक! सच-सच कहना कि तू स्वर्ण मिट्टी से सोना बना सकता है? यदि झूठ बोलेगा तो तुझे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा, वरना तुझे मैं क्षमा कर दूंगा।'

तांत्रिक ने सिर झुकाकर कहा—'यह असंभव है। मैं तो इस लोभी व लालची राजा को मूर्ख बनाकर कई दिनों तक ठगता रहता। कभी कुछ कहता और कभी कुछ...।'

'सुना जीजाजी, सोना चमत्कार से नहीं बनता है। सोना पुरुषार्थ से बनता है। सोना सचाई का प्रतीक है। जब आप अपने राजमहल और रियासत में सचाई की लहर लाएंगे, जब एक-एक मनुष्य सत्य के निकट आएगा तो वह सोना ही कहलाएंगे। सोने के भावार्थ को समझिए।

मीनल ने अपने पति के सन्निकट जाकर कहा—'हां स्वामी! सत्य सोना है, अहिंसा सोना है, करुणा सोना है। अपने राजमहल व नगर का निर्माण ऐसे सोने से करिए।'

उदारसिंह का सोने के प्रति अंधा मोह अभी उतरा नहीं था। वह विक्षिप्त-सा चिल्लाता 'रहा—सोना...सोना...सोना...।'

'मीनल बहन! सोने ने इन्हें पागल बना दिया है। इन्हें बंदीगृह में डाल देना चाहिए।'

'नहीं भाई साहब! मैं आस्तिक हूं। मुझे मेरी साधना और भक्ति पर विश्वास है। मुझे गहरा आत्मविश्वास है कि मैं अपने मधुर व्यवहार, शुद्ध आचार-विचार और गहन प्यार से इन्हें सामान्य और सही इंसान बना लूंगी। आप अब जाइए। आपने अपना काम पूरा कर दिया। आपने मुझे इस योग्य बनाया है, अब उसका भी तो प्रभाव देखिए।'

मधुपसिंह प्रसन्न मन लौट गया।

मीनल अब अपने पति उदारसिंह की सेवा और मन-विचारों के परिवर्तन के उपायों में जी-जान से लग गई। धीरे-धीरे राजा उदारसिंह स्वस्थ हो गया। उसने सच्चे सोने का अनुभव कर लिया। ❖

---

जो पुरुष अपने ही समान दूसरों को भी सुखी देखने की कामना रखते हैं, उनके पास रहने से विद्या प्राप्त होती है और अज्ञान का अंधकार दूर होता है। धन प्राप्त होता है और दरिद्रता का विनाश होता है। अतएव हम सदैव आत्मदर्शी महापुरुषों के समीप रहें।

**—यजुर्वेद**

*With best compliments from :*

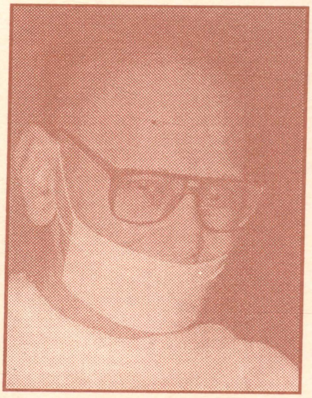

# KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

*Head Office :*

**'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor**
**Kolkata 700071**

Phone : (033) 22828532/8534/7949 • Fax : (033) 22828462

e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

*Branches at :*

**Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)**
**• Ludhiana (Punjab)**

जैन भारती, मई, 2003 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर/11/48/03-05

## We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

**Bearing is not our only business.**

CR

**Premier (India) Bearings Limited**

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926 / 0640, Fax - 22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।